प्रकाशकीय

•

मोक्षमाला तथा भावनाबोध श्रीमद् राजचन्द्रकी संक्षिप्त, परन्तु अनुपम कृतियाँ हैं। 'मोक्षमाला' मे जैनधर्मका सरलतासे दिग्दर्शन करानेवाले १०८ पाठ दिये गये है और 'भावनाबोध' में वैराग्यभावकी उत्पत्ति एवं वृद्धिमे कारणभूत अनुभवपूर्ण विवेचन पूरा गया है।

आश्रमकी ओरसे गुजराती भाषामें इसकी बहुतसी आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं। परमश्रुतप्रभावक-मण्डलकी ओरसे हिन्दीभाषी जिज्ञासु बधुओके उपयोगार्थ पुन: इसका नया सस्करण 'भगवान् महावीर २५००वे निर्वाण-महोत्सव' के प्रसग पर प्रगट करते हुए हमे अत्यन्त हर्ष होता है।

'श्रीमद् राजचन्द्र'–ग्रन्थका नया हिन्दी अनुवाद श्री हसराज जैनने किया है. अत उक्त ग्रन्थमें दिया गया मोक्षमाला और भावनाबोधका अनुवाद ही प्रस्तुत पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुआ है।

चार वर्ष पहले वीर नि० संवत् २४९६ मे श्री पं० परमेष्ठीदासजीके द्वारा अनुवादित आवृत्ति मुद्रित हुई थी। अबकी बार यह और भी परिमार्जित अनुवाद है, जिसका निर्णय पाठकगण करेंगे।

आशा है, जिज्ञासु मुमुक्षुगण परमश्रुतप्रभावक-मण्डल द्वारा प्रकाशित अन्य सत्शास्त्रोका भी पठन-पाठन द्वारा लाभ उठाकर हमे उत्साहित करते रहेगे।

निवेदक

रावजीभाई देसाई

'जिसने आत्माको जाना उसने सब कुछ जाना'

—निर्ग्रन्थ प्रवचन

ज्ञान ध्यान वैराग्यमय,

उत्तम जहाँ विचार,

ए भावे शुभ भावना,

ते उतरे भवपार ।

मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गमें प्रगति करनेमे
सर्व प्रकारसे सहायक हो यही इस
प्रकाशनका हेतु है ।

ॐ

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और

सत्समागम ।

सुषुप्त चेतनाको जागृत करनेवाले,

गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले,

दर्शन मात्रसे भी निर्दोष

अपूर्व स्वभावके प्रेरक,

स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त सयम

और

पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके

कारणभूत,

अन्तमे

अयोगी स्वभाव प्रगटकर

अनन्त अव्याबाध स्वरूपमे

स्थित करानेवाले ।

त्रिकाल जयवन्त वर्तो !

ॐ शाति: शाति: शांति:

—श्रीमद् राजचन्द्र

अनुक्रमणिका

भावनाबोध—द्वादशानुप्रेक्षास्वरूप-दर्शन

विषय			पृष्ठ
सच्चा सुख किसमे है ?	...	..	१
प्रथम दर्शन वारहभावना	..	...	६
प्रथम चित्र अनित्यभावना	...	..	८
द्वितीय चित्र अशरणभावना	.	...	११
तृतीय चित्र एकत्वभावना	...	...	१७
चतुर्थ चित्र अन्यत्वभावना	...	...	२५
पचम चित्र अशुचिभावना	...	.	३१
अन्तर्दर्शन षष्ठ चित्र निवृत्तिबोध		.	३५
सप्तम चित्र आस्रवभावना		...	४६
अष्टम चित्र सवरभावना	.	...	४७
नवम चित्र निर्जराभावना	...	...	४९
दशम चित्र लोकस्वरूपभावना	...	...	५१

मोक्षमाला (बालावबोध)

शिक्षापाठ	विषय			पृष्ठ
	उपोद्घात	..	...	५२
१	वाचकसे अनुरोध	...	...	५४
२	सर्वमान्य धर्म (काव्य)	...	..	५५
३	कर्मके चमत्कार	...	...	५७
४	मानवदेह	...	...	५८
५	अनाथी मुनि—भाग १	.	..	६०
६	अनाथी मुनि—भाग २	..	...	६१
७	अनाथी मुनि—भाग ३	...	...	६३
८	सद्देवतत्व	..	..	६५

शिक्षापाठ	विषय			पृष्ठ
९	सद्धर्मतत्त्व	...	...	६६
१०	सद्गुरुतत्त्व—भाग १	...	...	६८
११	सद्गुरुतत्त्व—भाग २	...	...	६९
१२	उत्तम गृहस्थ	...	...	७१
१३	जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १	...	.	७२
१४	जिनेश्वरकी भक्ति—भाग २	...	...	७४
१५	भक्तिनो उपदेश (काव्य)	...	..	७६
१६	सच्ची महत्ता	...	...	७७
१७	वाहुवल	. .	...	७९
१८	चार गति	...	...	८०
१९	ससारकी चार उपमाएँ—भाग १	...	...	८३
२०	ससारकी चार उपमाएँ—भाग २	...	.	८४
२१	वारह भावनाएँ	...	...	८६
२२	कामदेव श्रावक	...	.	८७
२३	सत्य	...	...	८९
२४	सत्सग	...	.	९१
२५	परिग्रहकी मर्यादा	...	...	९३
२६	तत्त्वका समझना		...	९५
२७	यतना	.	...	९७
२८	रात्रिभोजन	...	...	९८
२९	सर्व जीवोकी रक्षा—भाग १	...	...	९९
३०	सर्व जीवोकी रक्षा—भाग २	...	...	१०१
३१	प्रत्याख्यान	...	..	१०३
३२	विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है	...	. .	१०५
३३	सुदर्शन सेठ	...	..	१०६
३४	ब्रह्मचर्य विषे सुभाषित (काव्य)	..	...	१०८

शिक्षापाठ	विषय	पृष्ठ
३५	नवकारमंत्र	११०
३६	अनानुपूर्वी	११२
३७	सामायिक विचार—भाग १	११४
३८	सामायिक विचार—भाग २	११६
३९	सामायिक विचार—भाग ३	११८
४०	प्रतिक्रमण विचार	११९
४१	भिखारीका खेद—भाग १	१२१
४२	भिखारीका खेद—भाग २	१२२
४३	अनुपम क्षमा	१२४
४४	राग	१२६
४५	सामान्य मनोरथ (काव्य)	१२७
४६	कपिलमुनि—भाग १	१२८
४७	कपिलमुनि—भाग २	१२९
४८	कपिलमुनि—भाग ३	१३१
४९	तृष्णानी विचित्रता (काव्य)	१३३
५०	प्रमाद	१३६
५१	विवेक किसे कहते हैं	१३७
५२	ज्ञानियोने वैराग्यका उपदेश किस लिए दिया ?	१३९
५३	महावीर शासन	१४०
५४	अशुचि किसे कहना ?	१४३
५५	सामान्य नित्यनियम	१४४
५६	क्षमापना	१४५
५७	वैराग्य धर्मका स्वरूप है	१४६
५८	धर्मके मतभेद—भाग १	१४८
५९	धर्मके मतभेद—भाग २	१४९
६०	धर्मके मतभेद—भाग ३	१५१

शिक्षापाठ	विषय	पृष्ठ
६१	सुखका विचार—भाग १	१५३
६२	सुखका विचार—भाग २	१५५
६३	सुखका विचार—भाग ३	१५७
६४	सुखका विचार—भाग ४	१५९
६५	सुखका विचार—भाग ५	१६०
६६	सुखका विचार—भाग ६	१६२
६७	अमूल्य तत्त्वविचार (काव्य)	१६४
६८	जितेन्द्रियता	१६६
६९	ब्रह्मचर्यकी नौ वाडें	१६८
७०	सनत्कुमार—भाग १	१७०
७१	सनत्कुमार—भाग २	१७२
७२	बत्तीस योग	१७३
७३	मोक्षसुख	१७५
७४	धर्मध्यान—भाग १	१७७
७५	धर्मध्यान—भाग २	१७९
७६	धर्मध्यान—भाग ३	१८१
७७	ज्ञानसम्बंधी दो शब्द—भाग १	१८३
७८	ज्ञानसम्बधी दो शब्द—भाग २	१८४
७९	ज्ञानसम्बधी दो शब्द—भाग ३	१८६
८०	ज्ञानसम्बधी दो शब्द—भाग ४	१८७
८१	पचमकाल	१८८
८२	तत्वावबोध—भाग १	१९०
८३	तत्वावबोध—भाग २	१९२
८४	तत्वावबोध—भाग ३	१९३
८५	तत्वावबोध—भाग ४	१९४
८६	तत्वावबोध—भाग ५	१९६

शिक्षापाठ	विषय	पृष्ठ
८७	तत्त्वाववोध—भाग ६	१९७
८८	तत्त्वाववोध—भाग ७	१९८
८९	तत्त्वाववोध—भाग ८	२००
९०	तत्त्वाववोध—भाग ९	२००
९१	तत्त्वाववोध—भाग १०	२०२
९२	तत्त्वाववोध—भाग ११	२०४
९३	तत्त्वाववोध—भाग १२	२०५
९४	तत्त्वाववोध—भाग १३	२०६
९५	तत्त्वाववोध—भाग १४	२०७
९६	तत्त्वाववोध—भाग १५	२०८
९७	तत्त्वाववोध—भाग १६	२१०
९८	तत्त्वाववोध—भाग १७	२११
९९	समाजकी आवश्यकता	२१२
१००	मनोनिग्रहके विघ्न	२१३
१०१	स्मृतिमे रखने योग्य महावाक्य	२१५
१०२	विविध प्रश्न—भाग १	२१५
१०३	विविध प्रश्न—भाग २	२१७
१०४	विविध प्रश्न—भाग ३	२१८
१०५	विविध प्रश्न—भाग ४	२१९
१०६	विविध प्रश्न—भाग ५	२२०
१०७	जिनेश्वरनो वाणी (काव्य)	२२२
१०८	पूर्णमालिका मगल (काव्य)	२२३

श्रीमद् राजचन्द्र (१६वाँ वर्ष)

भावनाबोध

(द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमे है ?

चाहे जैसे तुच्छ विषयमे प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओकी सहज प्रवृत्ति वैराग्यमें जुट जानेकी होती है। बाह्य दृष्टिसे जब तक उज्ज्वल आत्माएँ ससारके मायिक प्रपचमे दिखायी देती है तब तक इस कथनकी सिद्धि कदाचित् दुर्लभ है, तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण सर्वथा सुलभ है, यह नि सशय है।

एक छोटेसे छोटे जन्तुसे लेकर एक मदोन्मत्त हाथी तक सभी प्राणी, मनुष्य और देवदानव इन सबकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनंद प्राप्त करनेकी है। इसलिए वे उसकी प्राप्तिके उद्योगमें जुटे रहते हैं, परतु विवेक बुद्धिके उदयके बिना वे उसमे विभ्रमको प्राप्त होते है। वे ससारमे नाना प्रकारके सुखोका आरोप करते हैं। अति अवलोकनसे यह सिद्ध है कि वह आरोप वृथा है। इस आरोपको अनारोप करनेवाले विरले मनुष्य विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत परतु अन्य विषयको प्राप्त करनेके लिए कहते आये हैं। जो सुख भयवाले हैं वे सुख नही परन्तु दु ख हैं। जिस वस्तुको प्राप्त करनेमे महा ताप है, जिस वस्तुको भोगनेमे इससे भी विशेप ताप है, तथा परिणाममे महा ताप, अनन्त शोक और अनन्त भय है, उस वस्तुका सुख मात्र नामका सुख है, अथवा है ही नही। इसलिए विवेकी उसमें अनुरक्ति नही करते। संसारके प्रत्येक सुखसे विरा-

जित राजेश्वर होनेपर भी, सत्य तत्त्वज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होनेसे, उसका त्याग करके योगमे परमानन्द मानकर सत्य मनोवीरतासे अन्य पामर आत्माओका भर्तृहरि उपदेश देते है कि—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भावार्थ–भोगमे रोगका भय है, कुलमे पतनका भय है, लक्ष्मीमे राजाका भय है, मानमे दीनताका भय है, बलमे शत्रुका भय है, रूपमे स्त्रीका भय है, शास्त्रमे वादका भय है, गुणमे खलका भय है, और कायामे कालका भय है, इस प्रकार सभी वस्तुएँ भयवाली हैं, मात्र वैराग्य ही अभय है।

महा योगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् सभी उज्ज्वल आत्माओको मान्य रखने योग्य है। इसमे सारे तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिए इन्होने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धातरहस्यरूप और ससारशोकके स्वानुभवका तादृश चित्र खीच दिया है। इन्होने जिन-जिन वस्तुओपर भयकी छाया प्रदर्शित की है वे सब वस्तुएँ ससारमें मुख्यत सुखरूप मानी गयी है। ससारका सर्वोत्तम सुख-साधन जो भोग है वह तो रोगका धाम ठहरा। मनुष्य ऊँचे कुलसे सुख मानता है, वहाँ पतनका भय दिखाया। ससारचक्रमे व्यवहारका ठाठ चलानेके लिए दंडरूप लक्ष्मी है वह राज ।इत्यादिके भयसे भरपूर है। कोई भी कृत्य करके यश-कीर्तिसे मान प्राप्त करन ।या मानना, ऐसी ससारके पामर जीवोकी अभिलाषा है; उसमे महा दीनता और दरिद्रताका भय है। बल-पराक्रमसे भी ऐसी ही उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रही है, उसमे शत्रुका भय रहा हुआ है। रूप-काति भोगीके लिए मोहनीरूप है इसलिए उसे धारण करनेवाली स्त्रियाँ

उसके लिए निरंतर भयरूप ही है। अनेक प्रकारसे गूँथ डाले हुए शास्त्रजालमें विवादका भय रहा है। किसी भी सांसारिक सुखका गुण प्राप्त करनेसे जो आनंद समझा जाता है, वह खल मनुष्यकी निंदाके कारण भयान्वित है, जिसमे अनत प्रियता रही है वह काया एक समय कालरूपी सिंहके मुखमे जा पड़नेके भयसे भरपूर है। इस प्रकार ससारके मनोहर परतु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है, जहाँ शोक हो वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना यथोचित है।

योगींद्र भर्तृहरि एक ही ऐसा कह गये है यह वात नही है। कालानुसार सृष्टिके निर्माण समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल या आर्य देश नही है जिसमे तत्त्वज्ञानियोंकी उत्पत्ति बिलकुल न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओने ससारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है, यह इनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शकर, गौतम, पतंजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोमे मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोमे कुछ आ जाता है :—

"अहो लोगो! संसाररूपी समुद्र अनंत एवं अपार है। इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करें! उपयोग करें!!"

ऐसा उपदेश करनेमे इनका हेतु प्रत्येक्त प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही हैं कि ससार एकांत और अनत शोकरूप तथा दु:खप्रद है। अहो भव्य लोगो! इसमे मधुरी मोहनी न लाकर इससे निवृत्त होवें! निवृत्त होवें!!

महावीरका एक समयमात्रके लिए भी संसारका उपदेश नही

है। इन्होंने अपने सभी प्रवचनोमे यही प्रदर्शित किया है, तथा स्वाचरणसे वैसा भी सिद्ध कर दिया है। कचनवर्णी काया, यशोदा जैसी रानी, अपार साम्राज्य, लक्ष्मी और महा प्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनकी मोहनीको छोड़कर ज्ञानदर्शनयोगपरायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता प्रदर्शित की है वह अनुपम है। इसी एक रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामे महावीर कपिल केवलीके मुखकमलसे तत्त्वाभिलाषीके लिए कहलाते है —

अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गइं न गच्छिज्जा॥

'अध्रुव एवं अशाश्वत ससारमे अनेक प्रकारके दु ख है, मैं ऐसी कौनसी करनी करूँ कि जिस करनीसे दुर्गतिमे न जाऊँ ?' इस गाथामे इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिलमुनि फिर आगे उपदेश चलाते हैं .—

अधुवे असासयम्मि—ये महान् तत्त्वज्ञानप्रसादीभूत वचन प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके सतत वैराग्यवेगके है। अति बुद्धिशालियोको संसार भी उत्तमरूपसे मान्य रखता है, फिर भी वे बुद्धिशाली उसका त्याग करते हैं; यह तत्त्वज्ञानका स्तुतिपात्र चमत्कार है। वे अति मेधावी अतमे पुरुषार्थकी स्फुरणा कर महा योग साधकर आत्माके तिमिरपटको दूर करते हैं। ससारको शोकाब्धि कहनेमे तत्त्वज्ञानियोकी भ्राति नही है, परतु ये सभी तत्त्वज्ञानी कही तत्त्वज्ञानचंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नही होते, इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचन तत्त्वज्ञानके लिए जो प्रमाण देते है वे महत्त्वपूर्ण सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके तुल्य ऋषभदेव जैसे जो जो सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने नि स्पृहतासे उपदेश देकर जगत्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

ससारमे जो एकात और अनत भरपूर ताप है वह ताप तीन प्रकारका है—आधि, व्याधि और उपाधि। इससे मुक्त होनेके लिए सभी तत्त्वज्ञानी कहते आये हैं। संसारत्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनोकी विनय, विवेक, नि स्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान, इन सवका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अराग, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान और मिथ्यात्व, इन सवका त्याग करना। यह सभी दर्शनोका सामान्यत सार है। नीचेके दो चरणोमे इस सारका समावेश हो जाता है—

प्रभो भजो नीति सजो, परठो परोपकार।

सचमुच! यह उपदेश स्तुतिपात्र है। यह उपदेश देनेमे किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता प्रदर्शित की है। यह सव उद्देशकी दृष्टिसे तो समतुलितसे दिखायी देते हैं। परतु सूक्ष्म उपदेशकके तौरपर सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् प्रथम पदवीके धनी हो जाते हैं। निवृत्तिके लिए जिन-जिन विषयोंको पहले बताया है उन-उन विषयोंके सच्चे स्वरूपको समझकर सर्वांशमे मगलमय वोध देनेसे ये राजपुत्र वाजी ले गये हैं। इसके लिए उन्हे अनंत धन्यवाद छाजता है!

इन सब विषयोका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन अथवा क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करे। सभी उपदेशक यो कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना, और प्रयोजन दु खकी निवृत्ति है। इसीलिए सब दर्शनोमें सामान्यतः मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। द्वितीय अंग सूत्रकृतागके प्रथम श्रुतस्कंधके छठे अध्ययनकी चौवीसवी गाथाके तीसरे चरणमे कहा है कि—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा।

सभी धर्मोमे मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है।

साराश यह है कि मुक्त अर्थात् ससारके शोकसे मुक्त होना।

परिणाममे ज्ञानदर्शनादि अनुपम वस्तुओको प्राप्त करना। जिसमे परम सुख और परमानंदका अखड निवास है, जन्म-मरणकी विडवनाका अभाव है, शोक एव दु खका क्षय है; ऐसे इस वैज्ञानिक विषयका विवेचन अन्य प्रसगमे करेंगे।

यह भी निर्विवाद मान्य रखना चाहिये कि उस अनंत शोक एवं अनत दु खकी निवृत्ति इन्ही सासारिक विषयोसे नही है। रुधिरसे रुधिरका दाग नही जाता, परतु जलसे वह दूर हो जाता है, इसी तरह शृगारसे या शृंगार मिश्रित धर्मसे ससारकी निवृत्ति नही होती। इसीलिए वैराग्यजलकी आवश्यकता नि सशय सिद्ध होती है, और इसीलिए वीतरागके वचनोमे अनुरक्त होना उचित है। निदान इससे विषयरूप विषका जन्म नही होता। परिणाममे यही मुक्तिका कारण है। हे मनुष्य ! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंका विवेकवुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर।

•

प्रथम दर्शन

इसमे वैराग्यवोधिनी कुछ भावनाओका उपदेश करेंगे। वैराग्य एव आत्महितैषी विषयोकी सुदृढता होनेके लिए तत्त्वज्ञानी वारह भावनाएँ बताते हैं—

१. अनित्यभावना—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि सर्व विनाशी हैं। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली अनित्यभावना।

२. अशरणभावना—ससारमे मरणके समय जीवको शरणमे रखनेवाला कोई नही, मात्र एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है, ऐसा चिंतन करना, यह दूसरी अशरणभावना।

३. संसारभावना—इस आत्माने संसारसमुद्रमे पर्यटन करते-करते सर्व भव किये हैं। इस संसारबेड़ीसे मैं कब छूटूँगा? यह संसार मेरा नही है, मैं मोक्षमय हूँ, इस तरह चिंतन करना, यह तीसरी संसारभावना।

४. एकत्वभावना—यह मेरी आत्मा अकेली है, यह अकेली आयी है, अकेली जायगी, अपने किये हुए कर्मोको अकेली भोगेगी; अंतःकरणसे इस तरह चितन करना, यह चौथी एकत्वभावना।

५. अन्यत्वभावना—इस ससारमे कोई किसीका नही है, इस तरह चित्तन करना, यह पाँचवी अन्यत्वभावना।

६. अशुचिभावना—यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्रकी खान है, रोग-जराका निवासधाम है, इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ; इस तरह चितन करना, यह छठी अशुचिभावना।

७. आस्रवभावना—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, इस तरह चितन करना, यह सातवी आस्रवभावना।

८. संवरभावना—ज्ञान व ध्यानमें प्रवर्तमान होकर जीव नये कर्म नही बाँधता, यह आठवी सवरभावना।

९ निर्जराभावना—ज्ञानसहित क्रिया करना यह निर्जराका कारण है, इस तरह चित्तन करना, यह नौवी निर्जराभावना।

१०. लोकस्वरूपभावना—चौदह राजूलोकके स्वरूपका विचार करना, यह दसवी लोकस्वरूपभावना।

११. बोधिदुर्लभभावना—ससारमे भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्ति होना दुर्लभ है; अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चारित्र-सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म प्राप्त होना दुर्लभ है; इस तरह चितन करना, यह ग्यारहवी बोधिदुर्लभभावना।

१२ धर्मदुर्लभभावना—धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके

बोधक गुरु और उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, इस तरह चिंतन करना, यह बारहवी धर्मदुर्लभभावना।

इस प्रकार मुक्ति सिद्ध करनेके लिए जिस वैराग्यकी आवश्यकता है उस वैराग्यको दृढ़ करनेवाली बारह भावनाओमेसे कुछ भावनाओका इस दर्शनके अन्तर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाएँ कुछ विषयोमे बाँट दी गयी है, और कुछ भावनाओंके लिए अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है। इसलिए यहाँ उनका विस्तार नही किया।

●

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

(उपजाति)

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग,
आयुष्य ते तो जळना तरंग।
पुरंदरी चाप अनंग रंग,
शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग!॥

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीका चमकारा होकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। पतंगका रंग जैसे चार दिनकी चाँदनी है, वैसे ही अधिकार मात्र थोडा समय रहकर हाथसे जाता रहता है। आयु पानीकी हिलोर सरीखी है। पानीकी हिलोर जैसे आयी कि गयी वैसे जन्म पाया और एक देहमे रहा कि न रहा, इतनेमे दूसरी देहमे जाना पड़ता है। कामभोग आकाशमे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रधनुषके सदृश है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमे

क्षणभरमे विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमे कामविकार फलीभूत होकर जरावस्थामे जाते रहते हैं। संक्षेपमे हे जीव! इन सभी वस्तुओका सम्बन्ध क्षणभरका है, इनमे प्रेमबधनकी साँकलसे बधकर क्या प्रसन्न होना? तात्पर्य कि ये सब चपल एव विनाशी हैं, तू अखड एव अविनाशी है, इसलिए अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर।

भिखारीका खेद

दृष्टांत—इस अनित्य और स्वप्नवत् सुखके विषयमे एक दृष्टांत कहते हैं—

एक पामर भिखारी जगलमे भटकता था। वहाँ उसे भूख लगी। इसलिए वह बिचारा लडखडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की। उसकी गिड़गिड़ाहटसे करुणार्द्र होकर उस गृहपतिकी स्त्रीने घरमेसे जीमनेसे बढा हुआ मिष्टान्न लाकर उसे दिया। ऐसा भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनदित होता हुआ नगरके बाहर आया। आकर एक वृक्षके नीचे बैठा। वहाँ जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घड़ा रख दिया, एक ओर अपनी फटी पुरानी मलिन गुदड़ी रखी और फिर एक ओर वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। उसने कभी न देखे हुए भोजनको खुशी-खुशी खाकर पूरा किया। भोजनको स्वधाम पहुँचानेके बाद सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे जरासी देरमे उसकी आँखे मिच गयी। वह निद्रावश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। मानो वह स्वयं महा राजऋद्धिको प्राप्त हुआ है, इसलिए उसने सुदर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, सारे देशमे उसकी विजयका डका बज गया है, समीपमे उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिए अनुचर खड़े हो रहे हैं, आसपास छड़ीदार 'खमा! खमा'! पुकार रहे हैं, एक उत्तम महालयमे सुदर पलंगपर उसने शयन किया है,

देवागना जैसी स्त्रियाँ उसकी पांव-चप्पी कर रही हैं, एक ओरसे मनुष्य पखसे सुगन्धिपवन कर रहे हैं, इस प्रकार उसने अपूर्व सुखकी प्राप्तिवाला स्वप्न देखा। स्वप्नावस्थामे उसके रोमाच उल्लसित हो गये। वह मानो स्वय सचमुच वैसा सुख भोग रहा है ऐसा वह मानने लगा। इतनेमे सूर्यदेव बादलोसे ढक गया, बिजली कौधने लगी, मेघ महाराज चढ़ आये, सर्वत्र अँधेरा छा गया, मूसलाधार मेह बरसेगा ऐसा नजारा हो गया, और घनगर्जितसे एक प्रबल कडाका हुआ, जिससे भयभीत हो वह पामर भिखारी शीघ्र जाग उठा। जागकर देखता है तो न है वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महालय कि न है वह पलग, न हैं वे चामरछत्रधारी कि न हैं वे छडीदार, न है वह स्त्रीवृद कि न हैं वे वस्त्रालकार, न है पखा कि न है पवन, न हैं वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुख-विलास कि न है वह मदोन्मत्तता। देखता है तो जिस जगह पानी-का पुराना घडा पडा था उसी जगह वह पडा है, जिस जगह फटी-पुरानी गुदडी पड़ी थी उसी जगह वह फटी-पुरानी गुदड़ी पडी है। महाशय तो जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये। स्वय जैसे मलिन और अनेक जाली-झरोखेवाले वस्त्र पहन रखे थे वैसेके वैसे वही वस्त्र शरीरपर विराजते हैं। न तिलभर घटा कि न रत्तीभर बढ़ा। यह सब देखकर वह अति शोकको प्राप्त हुआ और सोचने लगा—'जिस सुखाडबरसे मैंने आनन्द माना, उस सुखमेसे तो यहाँ कुछ भी नहीं है। अरे रे! मैंने स्वप्नके भोग तो भोगे नही और मुझे मिथ्या खेद प्राप्त हुआ। इस प्रकार वह बेचारा भिखारी ग्लानिमे आ पडा।

प्रमाणशिक्षा—स्वप्नमे जैसे उस भिखारीने सुखसमुदायको देखा, भोगा और आनंद माना, वैसे पामर प्राणी संसारके स्वप्नवत् सुख-समुदायको महानन्दरूप मान बैठे हैं। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमे उस भिखारीका मिथ्या प्रतीत हुआ, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे

संसारके सुख मिथ्या प्रतीत होते हैं। स्वप्नके भोग न भोगे जानेपर भी जैसे उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई, वैसे पामर भव्य जीव ससारमे सुख मान वैठते हैं, और भोगे हुएके तुल्य मानते हैं, परन्तु उस भिखारीकी भाँति परिणाममे खेद, पश्चात्ताप और अधोगतिको प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही है, वैसे ससारकी एकभी वस्तुका सत्यत्व नही है। दोनों चपल और शोकमय हैं। ऐसा विचार करके बुद्धिमान् पुरुष आत्मश्रेयको खोजते हैं।

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनका प्रथम चित्र 'अनित्य-भावना' इस विषयपर सदृष्टान्त वैराग्योपदेशार्थ समाप्त हुआ।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध्य आराध्य प्रभाव आणी।
अनाथ एकांत सनाथ थाशे,
एना विना कोई न बांह्य स्हाशे ॥

विशेषार्थ—सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निःस्पृहतासे उपदिष्ट धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर, मन, वचन और कायाके प्रभावसे हे चेतन! उसका तू आराधन कर, आराधन कर। तू केवल अनाथ-रूप है सो सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीभ्रमणमे तेरी बाँह पकड़नेवाला कोई नही है।

जो आत्माएँ ससारके मायिक सुखको या अवदर्शनको शरणरूप मानें, वे अधोगतिको प्राप्त करें, तथा सदैव अनाथ रहे, ऐसा बोध

करनेवाले भगवान् अनाथी मुनिका चरित्र शुरू करते है, इससे अशरणभावना दृढ होगी।

अनाथी मुनि

दृष्टान्त—अनेक प्रकारकी लीलाओसे युक्त मगध देशका श्रेणिक राजा अश्वक्रीडाके लिए मडिकुक्ष नामके वनमे निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके तरुकुञ्ज वहाँ नजर आ रहे थे, नाना प्रकारकी कोमल वल्लिकाएँ घटाटोप छायी हुई थी, नाना प्रकारके पक्षी आनदसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनायी दे रहे थे, नाना प्रकारके फूलोसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ वह रहे थे, सक्षेपमे सृष्टिसौंदर्यका प्रदर्शनरूप होकर वह वन नदन-वनकी तुल्यता धारण कर रहा था। वहाँ एक तरुके नीचे महान् समाधिमान् पर सुकुमार एव सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उसका रूप देखकर वह राजा अत्यन्त आनंदित हुआ। उस अतुल्य एव उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमे उसकी प्रशसा करने लगा "अहो! इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! अहो! इसका कैसा मनोहर रूप है! अहो! इस आर्यकी कैसो अद्भुत सौम्यता है! अहो! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! अहो! इसके अगसे वैराग्यकी कैसी उत्तम स्फुरणा है! अहो! इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! अहो! यह सयति कैसा निर्भय अप्रभुत्व-नम्रता रखता है! अहो! इसको भोगकी नि सगता कितनी सुदृढ है!" यो चितन करते-करते, मुदित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरेसे चलते-चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वदन करके, न अति समीप और न अति दूर वह बैठा। फिर अजलिबद्ध होकर विनयसे पूछा—"हे आर्य! आप प्रशसा करने योग्य तरुण है, भोगविलासके लिए आपकी वय अनुकूल है, ससारमे नाना प्रकारके सुख है, ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसंबधी कामभोग, तथा मनो-

हारिणी स्त्रियोंके मुखवचनोंका मधुर श्रवण होने पर भी इन सवका त्याग करके मुनित्वमे आप महान् उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण ? यह मुझे अनुग्रहसे कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा, "मै अनाथ था, हे महाराजन्! मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करनेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणा करके परम सुखका देनेवाला सुहृत्-मित्र लेश मात्र भी कोई न हुआ। यह कारण था मेरी अनाथताका।"

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे मुस्कराया। "अरे! आपसे महान् ऋद्धिमान्का नाथ क्यो न हो ? देखिये, कोई नाथ नही है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण। आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र! जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्य-भवको सफल कीजिये।

अनाथीने कहा—"परन्तु अरे श्रेणिक, मगधदेशके राजन्! तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा ? निर्धन धनाढ्य कहाँसे वना सके ? अवुध वुद्धिदान कहाँसे दे सके ? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके ? वंध्या सतान कहाँसे दे सके ? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा ?" मुनिके वचनोसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिन वचनोंका कभी श्रवण नही हुआ, उन वचनोका यतिमुखसे श्रवण करके वह शकाग्रस्त हुआ और वोला— "मैं अनेक प्रकारके अश्वोका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका धनी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन है, नगर, ग्राम, अंत पुर, तथा चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्यसम्वन्धी सभी प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हैं; अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते है, पाँचो प्रकारकी सपत्ति मेरे घरमे है, सर्व मनोवाछित वस्तुएँ मेरे पास रहती हैं। ऐसा मै जाज्वल्यमान होते हुए भी अनाथ कैसे हूँ ? कही हे भगवन्! आप मृषा वोलते हो।" मुनिने कहा— "हे राजन्! मेरे कहे हुए अर्थकी उपपत्तिको तूने ठीक नही समझा। तू स्वय अनाथ है परन्तु तत्सम्वन्धी तेरो अज्ञता है। अव मै जो

कहता हूँ उसे अव्यग्र एव सावधान चित्तसे तू सुन-सुनकर फिर अपनी शकाके सत्यासत्यका निर्णय करना। मैने स्वय जिस अनाथतासे मुनित्वको अगीकृत किया है उसे मैं प्रथम तुझे कहता हूँ—

"कौशाम्वी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारके भेदोको उत्पन्न करनेवाली एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामका मेरे पिता रहते थे। प्रथम यौवनावस्थामे हे महाराजन्! मेरी आँखोमे अतुल्य एव उपमारहित वेदना उत्पन्न हुई। दु खप्रद दाहज्वर सारे शरीरमे प्रवर्तमान हुआ। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझपर कोपायमान हुआ। आँखोकी असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। इन्द्रके वज्रके प्रहार सरीखी, दूसरेको भी रौद्र भय उत्पन्न करनेवाली उस अत्यंत-परम दारुण वेदनासे मैं बहुत शोकार्त्त था। शारीरिक विद्यामे निपुण, अनन्य मंत्रमूलके सुज्ञ वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिए आये, अनेक प्रकारके औषधोपचार किये परतु वे वृथा गये। वे महा निपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी आँखोकी वेदनाको दूर करनेके लिए मेरे पिता सारा धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन्। यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दु खार्त्त हुई, परन्तु वे भी मुझे उस रोगसे नही छुडा सकी, रे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न हुए मेरे ज्येष्ठ एव कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके परतु मेरी वेदना दूर नही हुई, हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। एक उदरसे उत्पन्न हुई मेरी ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा भगिनियोसे मेरा दु ख दूर नही हुआ हे महाराजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी, वह अश्रुपूर्ण आँखोसे मेरे हृदयको सीचती और भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देनेपर और नाना प्रकारके उबटन, चूवा आदि

सुगधि द्रव्यो तथा अनेक प्रकारके फूल-चदनादिके ज्ञात अज्ञात विले-पन किये जानेपर भी मै उस यौवनवती स्त्रीको भोग नही सका। जो मेरे पाससे क्षणभर भी अलग नही रहती थी, अन्यत्र जाती नहीं थी, हे महाराजन्! ऐसी वह स्त्री भी मेरे रोगको दूर नही कर सकी, यही मेरी अनाथता थी। यो किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग शांत नही हुआ। मैंने उस समय पुनः पुन. असह्य वेदना भोगी।

"फिर मैं अनत ससारसे खिन्न हो गया। यदि एक वार मै इस महाविडंवनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खंती, दती और निरा-रंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, यो चिन्तन करता हुआ मै सो गया। जव रात्रि व्यतीत हो गयी तव हे महाराजन्! मेरी उस वेदनाका क्षय हो गया; और मै नीरोग हो गया। मात, तात और स्वजन, वांधव आदिसे प्रभातमे पूछकर मैंने महाक्षमावान्, इन्द्रिय-निग्रही और आरभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया। तत्पश्चात् मैं आत्मा परात्माका नाथ हुआ। सर्व प्रकारके जीवोका मैं नाथ हूँ।" अनाथी मुनिने इस प्रकार श्रेणिक राजाके मनपर अशरण भावनाको दृढ़ किया। अव उसे दूसरा अनुकूल उपदेश देते हैं—

"हे राजन्! यह अपनी आत्मा ही दु खसे भरपूर वैतरणीको करनेवाली है। अपनी आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दु खको उत्पन्न करनेवाली है। अपनी आत्मा ही मनोवांछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाली है। अपनी आत्मा ही नदनवनकी भाँति आनदकारी है। अपनी आत्मा ही उस कर्मको दूर करनेवाली है। अपनी आत्मा ही दु.खोपार्जन करने-वाली है। अपनी आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाली है। अपनी आत्मा ही मित्र और अपनी आत्मा ही वैरी है। अपनी आत्मा ही निकृष्ट आचारमे स्थित और अपनी आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित

रहती है ।" इस प्रकार तथा अन्य अनेक प्रकारसे उस अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाको ससारकी अनाथता कह सुनायी। इसके बाद श्रेणिकराजा अति संतुष्ट हुआ। वह अजलिबद्ध होकर यो बोला, "हे भगवन्! अपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। हे महर्षि ! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं, आप सर्व अनाथोके नाथ हैं। हे पवित्र सयति ! मै आपसे क्षमा माँगता हूँ। ज्ञानरूपी आपकी शिक्षाको चाहता हूँ। धर्मध्यानमे विघ्न करनेवाले भोग भोगने सबधी, हे महा भाग्यवान्! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया तत्संबधी अपने अपराधको नतमस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके राजपुरुष केसरी परमानन्दको पाकर रोमाचसहित प्रदक्षिणा देकर सविनय वंदन करके स्वस्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—अहोभव्यो! महा तपोधन, महा मुनि, महा प्रज्ञावान्, महा यशस्वी, महा निर्ग्रंथ और महा श्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महा मुनि अनाथीसे सहन किये गये दु खोके तुल्य अथवा इसे अति विशेष असह्य दु ख अनत आत्माएँ सामान्यत भोगती हुई दिखायी देती हैं। तत्सबधी तुम किंचित् विचार करो। ससारमे छायी हुई अनन्त अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अन्तमे यही मुक्तिका कारणरूप है। जिस प्रकार ससारमे रहे हुए अनाथी अनाथ थे, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए पुरुषार्थ करना यही श्रेय है।

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनके द्वितीय चित्रमें 'अशरणभावना'के उपदेशार्थ महा निर्गंथका चरित्र समाप्त हुआ।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

(उपजाति)

शरीरमां व्याधि प्रत्यक्ष थाय,
ते कोई अन्ये लई ना शकाय।
ए भोगवे एक स्व-आत्म पोते,
एकत्व एथी नयसुज्ञ गोते॥

विशेषार्थ—शरीरमे प्रत्यक्ष दीखनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं वे स्नेही, कुटुम्बी, पत्नी या पुत्र किसीसे लिये नही जा सकते; उन्हे मात्र एक अपनी आत्मा स्वय ही भोगती है। इसमे कोई भी भागी नही होता। तथा पाप-पुण्य आदि सभी विपाक अपनी आत्मा ही भोगती है। यह अकेली आती है, अकेली जाती है, ऐसा सिद्ध करके विवेकको भलीभाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वको निरंतर खोजते है।

दृष्टांत—महा पुरुषके इस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेंद्रका वैराग्योपदेशक सवाद यहाँ आगे प्रदर्शित करते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दु ख-समूहको प्राप्त न होते हुए भी एकत्वके स्वरूपकी परिपूर्ण पहचान करनेमें राजेश्वरने किंचित् विभ्रम नही किया। शक्रेंद्र पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमे विराजते हैं, वहाँ विप्ररूपमे आकर परीक्षा करनेके लिए अपना व्याख्यान शुरू करता है —

विप्र—हे राजन्! मिथिला नगरीमे आज प्रवल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय एव मनके लिए उद्वेगकारी विलापके शब्दोसे राजमदिर और सामान्य घर छाये हुए हैं। मात्र तेरी दीक्षा

ही इन सव दु खोका हेतु है। परकी आत्माको जो दु.ख अपनेसे होता है उस दु खको ससारपरिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला न बन।

नमिराज—(गौरवभरे वचनोसे) हे विप्र! तू जो कहता है वह मात्र अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमे एक बगीचा था, उसके मध्यमे एक वृक्ष था, शीतल छायाके कारण वह रमणीय था, पत्र, पुष्प और फलसे सहित था; नाना प्रकारके पक्षियोके लिए वह लाभ-दायक था, वायु द्वारा कपित होनेसे उस वृक्षमे रहनेवाले पक्षी दु खार्त एव शरणरहित हो जानेसे आक्रद करते हैं। वे पक्षी वृक्षके लिए विलाप नही करते, परतु अपने सुखके नष्ट होनेके कारण वे शोकार्त हैं।

विप्र—परतु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरे अत पुर और मदिर जल रहे हैं, वहाँ जा और उस अग्निको शांत कर।

नमिराज—हे विप्र! मिथिला नगरी, उन अत पुरो और मदिरोके जलनेसे मेरा कुछ भी नही जलता है, जैसे सुखोत्पत्ति है वेसे वर्तन करता हूँ। उन मदिर आदिमे मुझे अल्प मात्र भी ममत्व नही है। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेसे कुछ प्रिय नही है और अप्रिय भी नही है।

विप्र—परतु हे राजन्! तूने अपनी नगरीके लिए सघन किला वनाकर, सिंहद्वार, कोठे, किवाड और भुगाल वनाकर और शतघ्नी खाई वनवानेके वाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०[1]) हे विप्र! मैं शुद्ध श्रद्धारूपी नगरी वनाकर, सवररूपी भुगाल वनाकर, क्षमारूपी शुभ गढ़

१ हेतु और कारणसे प्रेरित।

वनाऊँगा; शुभ मनोरूपी कोठे वनाऊँगा, वचनयोगरूपी खाई वना-ऊँगा, कायायोगरूपी शतघ्नी वनाऊँगा, पराक्रमरूपी धनुष् करूँगा, ईर्यासमितिरूपी पनच करूँगा, धीरतारूपी कमान पकड़नेकी मूठ करूँगा, सत्यरूपी चापसे धनुष्को वाँधूँगा, तपरूपी बाण करूँगा और कर्मरूपी वैरीकी सेनाका भेदन करूँगा। लौकिक सग्रामकी मुझे रुचि नही है। मै मात्र वैसे भावसग्रामको चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे राजन्! शिखरवंध ऊँचे आवास करवाकर, मणिकचनमय गवाक्षादि रखवाकर और तालावमे क्रीड़ा करनेके मनोहर महालय वनवाकर फिर जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) तूने जिस जिस प्रकारके आवास गिनाये हैं उस उस प्रकारके आवास मुझे अस्थिर एव अशाश्वत मालूम होते हैं। वे मार्गके घररूप लगते हैं। इसलिए जहाँ स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है, और जहाँ स्थिरता है वहाँ मै निवास करना चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रियशिरोमणि! अनेक प्रकारके तस्करोंके उपद्रवको दूर करके, और इस तरह नगरीका कल्याण करके तूने जाना।

नमिराज—हे विप्र! अज्ञानी मनुष्य अनेक वार मिथ्या दड देते हैं। चोरी न करनेवाले जो शरीरादिक पुद्गल है वे लोकमे वाँधे जाते हैं; और चोरी करनेवाले जो इन्द्रियविकार हैं उन्हे कोई वाँध नही सकता। तो फिर ऐसा करनेकी क्या आवश्यकता?

विप्र—हे क्षत्रिय! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नही करते हैं और जो नराधिप स्वतंत्रतासे चलते है उन्हे अपने वशमे करनेके वाद जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) दस लाख सुभटोको संग्राममें जीतना दुस्कर गिना जाता है; तो भी ऐसी विजय करनेवाले पुरुष

अनेक मिल आते है, परतु एक स्वात्माको जीतनेवाला मिलना अत्यत दुर्लभ है। उन दस लाख सुभटोपर विजय पानेकी अपेक्षा एक स्वात्माको जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। बहिर्युद्धका क्या प्रयोजन है? ज्ञानरूप आत्मासे क्रोधादि युक्त आत्माको जीतनेवाला स्तुतिपात्र है। पाँचो इन्द्रियोको, क्रोधको, मानको, मायाको तथा लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोगादिको जीता उसने सबको जीता।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) समर्थ यज्ञ करके, श्रमण, तपस्वी, ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर और मनोज्ञ भोगोको भोगकर हे क्षत्रिय! तूने बादमे जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हर महीने यदि दस लाख गायोका दान दे तो भी उस दस लाख गायोके दानकी अपेक्षा जो सयम ग्रहण करके संयमकी आराधना करता है, वह उसकी अपेक्षा विशेष मगल प्राप्त करता है।

विप्र—निर्वाह करनेके लिए भिक्षासे सुशील प्रव्रज्यामे असह्य परिश्रम सहना पडता है; इसलिए उस प्रव्रज्याका त्याग करके अन्य प्रव्रज्यामे रुचि होती है, इसलिए इस उपाधिको दूर करनेके लिए तू गृहस्थाश्रममे रहकर पौषधादि व्रतमे तत्पर रहना। हे मनुष्याधिपति! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) हे विप्र! बाल अविवेकी चाहे जैसा उग्र तप करे परतु वह सम्यक् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके तुल्य न हो। एकाध कला सोलह कलाओ जैसी कैसे मानी जाय?

विप्र—अहो क्षत्रिय! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालकार और अश्वादिकी वृद्धि करके पीछे जाना।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) मेरु पर्वत जैसे कदाचित् सोने-चाँदीके असख्यात पर्वत हो तो भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नही

वुझती। वह किंचित् मात्र सतोषको प्राप्त नही होता। तृष्णा आकाश जैसी अनंत है। धन, सुवर्ण चतुष्पाद इत्यादिसे सकल लोक भर जाये इतना सव लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर करनेके लिए समर्थ नही है। लोभकी ऐसी निकृष्टता है। इसलिए सतोषनिवृत्तिरूप तपका विवेकी पुरुष आचरण करते हैं।

विप्र—(हेतु-कारण-प्रे०) हे क्षत्रिय ! मुझे अद्भुत आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोको छोड़ता है। फिर अविद्यमान काम-भोगमे संकल्प-विकल्प करके भ्रष्ट होगा। इसलिए इस सारी मुनित्वसवधी उपाधिको छोड़।

नमिराज—(हेतु-कारण-प्रे०) कामभोग शल्य सरीखे है, काम-भोग विष सरीखे हैं, कामभोग सर्पके तुल्य है, जिनकी वासनासे जीव नरकादिक अधोगतिमे जाता है, तथा क्रोध एवं मानके कारण दुर्गति होती है; मायाके कारण सद्गतिका विनाश होता है; लोभसे इस लोक व परलोकका भय होता है। इसलिए हे विप्र ! इसका तू मुझे वोध न दे। मेरा हृदय कभी भी विचलित होनेवाला नही है, इस मिथ्या मोहनीमे अभिरुचि रखनेवाला नही है। जान-बूझ-कर जहर कौन पिये ? जान-वूझकर दीपक लेकर कुएँमे कौन गिरे ? जान-वूझकर विभ्रममें कौन पडे ? मैं अपने अमृत जैसे वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस विपको प्रिय करनेके लिए मिथिलामे आनेवाला नही हूँ।

महर्षि नमिराजकी सुदृढता देखकर शक्रेंद्रने परमानंद पाया, फिर ब्राह्मणके रूपको छोड़कर इन्द्रका रूप धारण किया। वदन करनेके वाद मधुर वाणीसे राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा—"हे महा यशस्विन् ! वडा आश्चर्य है कि तूने क्रोधको जीता। आश्चर्य, तूने अहकारका पराजय किया। आश्चर्य, तूने माया मिटायी। आश्चर्य, तूने लोभको वशमे किया। आश्चर्य, तेरी सरलता। आश्चर्य,

तेरा निर्ममत्व। आश्चर्य, तेरी प्रधान क्षमा। आश्चर्य, तेरी निर्लोभता। हे पूज्य! तू इस भवमे उत्तम है, और परभवमे उत्तम होगा। तू कर्मरहित होकर प्रधान सिद्धगतिमे जायेगा।" इस प्रकार स्तुति करते-करते प्रदक्षिणा देते-देते श्रद्धाभक्तिसे उसने उस ऋषिके पादाबुजको वदन किया। तदनन्तर वह मुकुटवाला शक्रेंद्र आकाशमार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षा—विप्ररूपमे नमिराजके वैराग्यको परखनेमें इद्रने क्या न्यूनता की है? कुछ भी नही की। ससारकी जो-जो लोलुपताएँ मनुष्यको विचलित करनेवाली है, उन-उन लोलुपताओ संवधी महा गौरवसे प्रश्न करनेमे उस पुरंदरने निर्मल भावसे स्तुतिपात्र चातुर्य चलाया है। फिर भी निरीक्षण तो यह करना है कि नमिराज सर्वथा कचनमय रहे है। शुद्ध एव अखड वैराग्यके वेगमे अपने वहनेको उन्होने उत्तरमे प्रदर्शित किया है। "हे विप्र! तू जिन-जिन वस्तुओको मेरी कहलवाता है वे-वे वस्तुएँ मेरी नही हैं। मै एक ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और मात्र प्रशसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ।" ऐसे रहस्यमे नमिराज अपने उत्तर और वैराग्यको दृढ़ीभूत करते गये हैं। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उन महर्षिका चरित्र है। दोनो महात्माओका पारस्परिक सवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिए तथा अन्य वस्तुओका त्याग करनेके उपदेशके लिए यहाँ दर्शित किया। इसे भी विशेष दृढीभूत करनेके लिए नमिराजने एकत्व कैसे प्राप्त किया, इस विषयमे नमिराजके एकत्व-सवधको किंचित् मात्र प्रस्तुत करते हैं।

वे विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहनीयका उदय न होते हुए भी वे ससारलुब्धसे दिखायी देते थे। किसी समय उनके शरीरमे दाहज्वर नामके रोगकी उत्पत्ति हुई। सारा शरीर

मानो प्रज्वलित हो जाता हो ऐसी जलन व्याप्त हो गयी। रोम रोममे सहस्र विच्छुओकी दगवेदनाके समान दु ख उत्पन्न हो गया। वैद्य-विद्यामे प्रवीण पुरुषोके औपधोपचारका अनेक प्रकारके सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा गया। लेश मात्र भी वह व्याधि कम न होकर अधिक होती गयी। औषधमात्र दाहज्वरकी हितैषिणी होती गयी। कोई औषध ऐसी न मिली कि जिसे दाहज्वरसे किंचित् भी द्वेष हो! निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी उस महा व्याधिसे तग आ गये। उसे दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारों तरफ चलती थी। एक महा कुशल वैद्य मिला; उसने मलयगिरि चदनका विलेपन करनेका सूचन किया। मनोरमा रानियाँ चन्दन घिसनेमें लग गयी। चदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथोमे पहने हुए कंकणोंका समुदाय खलभलाहट करने लग गया। मिथिलेशके अगमे एक दाहज्वरकी असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी उन ककणोके कोलाहलसे उत्पन्न हुई। वे खलभलाहट सहन नही कर सके; इसलिए उन्होने रानियोको आज्ञा की; "तुम चदन न घिसो, क्यों खलभलाहट करती हो? मुझसे यह खलभलाहट सहन नही हो सकती।" सभी रानियोने मगलका एक एक ककण रखकर ककण-समुदायका त्याग कर दिया, जिससे वह खलभलाहट शात हो गयी। नमिराजने रानियोसे कहा, "तुमने क्या चदन घिसना बन्द कर दिया?" रानियोने बताया, "ना। मात्र कोलाहल शात करनेके लिए एक एक ककण रखकर दूसरे ककणोका परित्याग करके हम चंदन घिसती हैं। ककणके समूहको अब हमने हाथमे नही रखा है, इससे खलभलाहट नही होती।" रानियोके इतने वचन सुनते ही नमिराजके रोम-रोममे एकत्व स्फुरित हुआ, व्याप्त हो गया और ममत्व चला गया—"सचमुच! अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि होती है। अब देख, इस एक ककणसे लेश मात्र भी खलभलाहट नही होती; ककणके समूहके कारण सिर चकरा देनेवाली खल-

भलाहट होती थी। अहो चेतन! तू मान कि एकत्वमे ही तेरी सिद्धि है। अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि है। ससारमे अनन्त आत्माओके सम्बन्धसे तुझे उपाधि भोगना क्या आवश्यक है? उसका त्याग कर और एकत्वमे प्रवेश कर। देख! यह एक ककण अब खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शातिमे रम रहा है? जब अनेक थे तब यह कैसी अशाति भोगता था? इसी तरह तू भी ककणरूप है। इस ककणकी भाँति तू जब तक स्नेही कुटुम्बीरूपी ककणसमुदायमे पडा रहेगा तब तक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पड़ेगा; और यदि इस ककणकी वर्तमान स्थितिकी भाँति एकत्वका आराधन करेगा तो सिद्धगतिरूपी परम पवित्र शाति प्राप्त करेगा।" इस तरह वैराग्यमे उत्तरोत्तर प्रवेश करते हुए उन नमिराजको पूर्वजातिकी स्मृति हो आयी। प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके वे सो गये। प्रभातमे मांगल्यरूप बाजोकी ध्वनि गूँज उठी, दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वके परिपूर्ण सेवक उन श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवन्दन हो।

(शार्दूलविक्रीडित)

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमि भूपति।
संवादे पण इन्द्रथी दृढ़ रह्यो, एकत्व साचु कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ संपूर्ण अत्रे थयुं॥

विशेषार्थ—रानियोका समुदाय चदन घिसकर विलेपन करनेमे लगा हुआ था, तत्काल ककणकी खलभलाहटको सुनकर नमिराज उद्बुद्ध हुए। वे इन्द्रके साथ सवादमे भी अचल रहे, और उन्होने एकत्वको सिद्ध किया।

ऐसे उन मुक्तिसाधक महा वैरागीका चरित्र 'भावनाबोध' ग्रन्थके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ।

●

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

शार्दूलविक्रीडित

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहीओ स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना;
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना;
रे! रे! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना।

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नही, यह रूप मेरा नही, यह कांति मेरी नही, यह स्त्री मेरी नही, यह पुत्र मेरा नही, ये भाई मेरे नही, ये दास मेरे नही, ये स्नेही मेरे नही, ये सबंधी मेरे नही, यह गोत्र मेरा नही, यह जाति मेरी नही, यह लक्ष्मी मेरी नही, ये महालय मेरे नही, यह यौवन मेरा नही और यह भूमि मेरी नही है, यह मोह मात्र अज्ञानताका है। हे जीव! सिद्धगति साधनेके लिए अन्यत्वका बोध देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्राति दूर करनेके लिए और वैराग्यकी वृद्धिके लिए उत्तम भावसे मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतका चरित्र यहाँ उद्धृत करते हैं—

दृष्टांत—जिसकी अश्वशालामे रमणीय, चतुर, और अनेक प्रकारके तेज अश्वोका समूह शोभा देता था; जिसकी गजशालामे अनेक जातिके मदोन्मत्त हस्ती झूम रहे थे, जिसके अंतःपुरमे नवयौवना, सुकुमारी और मुग्धा सहस्रो स्त्रियाँ विराजित हो रही थी, जिसकी निधिमे समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी, जिसे विद्वान् चचलाकी उपमासे जानते हैं, स्थिर हो गयी थी, जिसकी आज्ञाको देवदेवांगनाएँ

अधीन होकर मुकुटपर चढा रहे थे, जिसके प्राशनके लिए नाना प्रकारके षड्‌रस भोजन पल-पलमे निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विकासके लिए बारीक एव मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारागनाएँ तत्पर रहती थी, जिसके निरीक्षण करनेके लिए अनेक प्रकारके नाटक चेटक थे, जिसकी यश कीर्ति वायुरूपसे फैलकर आकाशकी तरह व्याप्त थी, जिसके शत्रुओको सुखसे शयन करनेका वक्त नही आया था, अथवा जिसके वैरियोकी वनिताओंके नयनोसे सदैव आँसू टपकते थे, जिससे कोई शत्रुता दिखानेके लिए तो समर्थ न था, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली उठानेमे भी कोई समर्थ न था, जिसके समक्ष अनेक मन्त्रियोका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था, जिसके रूप, काति और सौंदर्य मनोहारी थे; जिसके अगमे महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीडा करने लिए महा सुगन्धिमय बाग-बगीचे और वनोपवन थे, जिसके यहाँ प्रधान कुलदीपक पुत्रोका समुदाय था, जिसकी सेवामे लाखो अनुचर सज्ज होकर खडे रहते थे, वह पुरुष जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ खमा-खमाके उद्‌गारोसे कचनके फूलो और मोतियोके थालोसे उसका स्वागत होता था, जिसके कुकुमवर्णी पादपकजका स्पर्श करनेके लिए इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामे महायशस्वी दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी, जिसके यहाँ साम्राज्यका अखड दीपक प्रकाशमान था, जिसके सिरपर महान् छ खडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था। कहनेका आशय यह है कि जिसके दलकी, जिसके नगर-पुरपट्टनकी, जिसके वैभवकी और जिसके विलासकी ससारकी दृष्टिसे किसी भी प्रकारकी न्यूनता न थी, ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुन्दर आदर्श भुवनमे वस्त्राभूषणोसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासनपर बैठा था। चारो ओरके द्वार खुले थे, नाना प्रकारकी धूपोका धूम्र सूक्ष्म रीति-

से फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगन्धि पदार्थ खूब महक रहे थे, नाना प्रकारके सुस्वरयुक्त वाजे यांत्रिक कलासे वज रहे थे, शीतल, मद और सुगधि यों त्रिविध वायुकी लहरे उठ रही थी, आभूषण आदि पदार्थोका निरीक्षण करते-करते वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमे अपूर्वताको प्राप्त हुआ।

उसके हाथकी एक उँगलीमेंसे अगूठी निकल पडी। भरतका ध्यान उस ओर खिचा और उँगली सर्वथा शोभाहीन दिखाई दी। नौ उँगलियाँ अंगूठियोसे जो मनोहरता रखती थी उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर भरतेश्वरको अद्भुत मूलभूत विचारकी प्रेरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि कारण है अगूठीका निकल जाना। इस बातको विशेष प्रमाणित करनेके लिए उसने दूसरी उँगलीकी अगूठी खीच निकाली। ज्यो ही दूसरी उँगलीमेसे अगूठी निकली त्यो हि वह उँगली भी शोभाहीन दिखायी दी, फिर इस वातको सिद्ध करनेके लिए उसने तीसरी उँगलीमेसे भी अंगूठी सरका ली, इससे यह वात और अधिक प्रमाणित हो गयी। फिर चौथी उँगलीमेसे अगूठी निकाल ली, इसलिए यह भी वैसी ही दिखाई दी। इस प्रकार भरतने अनुक्रमसे दसो उँगलियाँ खाली कर डाली, खाली हो जानेसे सभी उँगलियोका देखाव शोभाहीन मालूम हुआ। शोभाहीन देखावसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनासे गद्गद होकर इस प्रकार बोला—

अहोहो! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको पीटकर कुशलतासे घडनेसे मुद्रिका बनी, इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुन्दर दिखायी दी, इस उँगलीमेसे मुद्रिका निकल पड़नेसे विपरीत दृश्य नजर आया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता प्रतीत होनेका कारण मात्र अगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि अगूठी होती तो फिर ऐसी अशोभा मैं न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह

उँगली शोभाको प्राप्त हुई, इस उँगलीसे यह हाथ शोभा देता है; और इस हाथसे यह शरीर शोभा पाता है। तब इसमे मैं किसकी शोभा मानूँ ? अति विस्मयता! मेरी इस मानी जानेवाली मनोहर कातिको विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि, माणिक्य आदिके अलकार और रग-विरगे वस्त्र ठहरे। यह काति मेरी त्वचाकी शोभा ठहरी। यह त्वचा शरीरकी वीभत्सताको ढककर सुन्दरता दिखाती है। अहोहो! यह महा विपरीतता है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ, वह शरीर मात्र त्वचासे, वह त्वचा कातिसे और वह काति वस्त्रालकारसे शोभा देती है। तो फिर क्या मेरे शरीरकी तो कुछ शोभा ही नही ? रुधिर, मास और हड्डियोका ही केवल यह ढाँचा है क्या ? और इस ढाँचेको मैं सर्वथा अपना मानता हूँ। कैसी भूल! कैसी भ्राति! और कैसी विचित्रता है! मैं केवल पर-पुद्गलकी शोभासे शोभित होता हूँ। किसीसे रमणीयता धारण करनेवाले इस शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ ? और कदाचित् ऐसा मानकर मैं इसमे ममत्वभाव रखूँ तो वह भी केवल दु खप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे एक समय वियोग होनेवाला है। आत्मा जब दूसरी देहको धारण करनेके लिए जायेगी तब इस देहके यही रह जानेमे कोई शका नही है। यह काया मेरी न हुई और न होगी तो फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ या मानूँ, यह केवल मूर्खता है। जिसका एक समय वियोग होनेवाला है, और जो केवल अन्यत्वभाव रखती है उसमे ममत्वभाव क्या रखना ? यह जब मेरी नही होती तब मुझे इसका होना क्या उचित है ? नही, कदापि नही। यह जब मेरी नही तब मैं इसका नही, यो विचार करूँ, दृढ करूँ, और प्रवर्तन करूँ, यह विवेकवुद्धिका तात्पर्य है। यह सारी सृष्टि अनत वस्तुओंसे और पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके जितनी किसी भी वस्तुपर मेरी प्रीति नही है, वह वस्तु भी मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कौनसी वस्तु मेरी होगी ?

अहो ! मैं वहुत्त भूल गया। मिथ्या मोहमे फँस गया। वे नवयौवनाएँ, वे माने हुए कुलदीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छ खडका महान् राज्य, ये मेरे नही हैं। इनमेसे लेश मात्र भी मेरा नही। इनमें मेरा किंचित् भाग नही। जिस कायासे इन सब वस्तुओका उपभोग करता हूँ, वह भोग्य वस्तु जव मेरी न हुई तव अपनी मानी हुई दूसरी वस्तुएँ—स्नेही, कुटुम्बी इत्यादि क्या मेरी होनेवाली थी ? नही, विलकुल नही। यह ममत्वभाव मुझे नही चाहिये। ये पुत्र, ये मित्र, ये कलत्र, यह वैभव और यह लक्ष्मी, इन्हे मुझे अपना मानना ही नही। मैं इनका नही और ये मेरे नही। पुण्यादिको साधकर मैंने जो जो वस्तु प्राप्त की वह वह वस्तु मेरी न हुई, इस जैसा ससारमे क्या खेदमय है ? मेरे उग्र पुण्यत्वका परिणाम यही है न ? अतमे इन सवका वियोग ही है न ? पुण्यत्वका यह फल पाकर इसकी वृद्धिके लिए मैंने जो जो पाप किये उन सवको मेरी आत्माने ही भोगना है न ? और वह अकेले ही न ? इसमे कोई साझेदार नही है न ? नही नही। इन अन्यत्वभाववालोके लिए होकर मैने ममत्वभाव दिखाकर आत्माका अहितैपी होकर इसे रौद्र नरकका भोक्ता वनाऊँ इस जैसा कौनसा अज्ञान है ? ऐसी कौनसी भ्रांति है ? ऐसा कौनसा अविवेक है ? त्रेसठ शलाकापुरुपोमेसे मै एक गिना गया, इस परिस्थितिमे मैं ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको खो वैठूँ, यह सर्वथा अयुक्त है। इन पुत्रोको, इन प्रमदाओंको, इस राजवैभवको और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नही है। ममत्व नही है।"

राजराजेश्वर भरतके अत करणमे वैराग्यका ऐसा प्रकाश पडा कि तिमिरपट दूर हो गया। शुक्ल ध्यान प्राप्त हुआ। अशेषकर्म जलकर भस्मीभूत हो गये !!! महा दिव्य और सहस्र किरणसे भी अनुपम कांतिमान् केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसी समय इन्होने पचमुष्टि केशलुंचन किया। शासनदेवीने इन्हें सतसाज दिया; और ये महा

विरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दंडक, तथा आधि, व्याधि एव उपाधिसे मुक्त हुए। चपल ससारके सकल सुख-विलासने इन्होने निवृत्ति ली, प्रियाप्रियका भेद चला गया; और ये निरतर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये।

प्रमाणशिक्षा—इस प्रकार ये छ खडके प्रभु, देवोके देव जैसे, अतुल साम्राज्यलक्ष्मीके भोक्ता, महायुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक, राजराजेश्वर भरत आदर्शभुवनमे केवल अन्यत्वभावना उत्पन्न होनेसे शुद्ध विरागी हुए।

सचमुच भरतेश्वरका मनन करने योग्य चरित्र ससारकी शोकार्त्तता और उदासीनताका पूरा-पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण प्रदर्शित करता है। कहिये! इनके यहाँ क्या कमी थी? न थी नवयौवना स्त्रियोकी कमी, न थी राजऋद्धिकी कमी, न थी विजयसिद्धिकी कमी, न थी निधिकी कमी, न थी पुत्र-समुदायकी कमी, न थी कुटुम्ब-परिवारकी कमी, न थी रूपकातिकी कमी, और न थी यश.कीर्तिकी कमी।

इस तरह पहले कही हुई इनकी ऋद्धिका पुन स्मरण कराकर प्रमाणसे शिक्षाप्रसादीका लाभ देते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना और सर्पकन्चुकवत् संसारका परित्याग करके उसके मिथ्या ममत्वको सिद्ध कर दिया। महा वैराग्यकी अचलता, निर्ममता और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लितता, यह सव महा योगीश्वरके चरित्रमे गर्भित है।

एक ही पिताके सौ पुत्रोमेसे निन्यानवे पुत्र पहलेसे ही आत्मसिद्धिको साधते थे। सौवे इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि साधी। पिताने भी यही सिद्धि साधी। उत्तरोत्तर आनेवाले भरतेश्वरी राज्यासनके भोगी इसी आदर्श भुवनमे इसी सिद्धिको पाये हुए कहे जाते हैं। यह सकल सिद्धिसाधक मडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमे प्रवेश कराता है। अभिनन्दन हो उन परमात्माओको!

शार्दूलविक्रीडित

देखी आंगळी आप एक अडवी, वैराग्य वेगे गया,
छाडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया।
चोथुं चित्र पवित्र ए ज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता,
ज्ञानीनां मन तेह रंजन करो, वैराग्य भावे यथा।

विशेषार्थ—अपनी एक उँगलीको शोभाहीन देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमे प्रवेश किया, और जिसने राजसमाजको छोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया, ऐसे उस भरतेश्वरके चरित्रको धारण करके यह चौथा चित्र पूर्णताको प्राप्त हुआ। यह यथोचित वैराग्य भाव प्रदर्शित करके ज्ञानी पुरुषोके मनको रंजन करनेवाला हो!

भावनाबोध ग्रन्थमें अन्यत्वभावनाके उपदेशके लिए प्रथम दर्शनके चतुर्थ चित्रमें भरतेश्वरका दृष्टान्त और प्रमाणशिक्षा पूर्णताको प्राप्त हुए।

●

पंचम चित्र

अशुचिभावना

गीतिवृत्त

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम।
काया एवी गणीने, मान त्यजीने कर सार्थक आम॥

विशेषार्थ—हे चैतन्य! इस कायाको मल और मूत्रकी खान, रोग और वृद्धताके रहनेका धाम मानकर उसका मिथ्यामान त्याग करके सनत्कुमारकी भाँति उसे सफल कर!

इन भगवान् सनत्कुमारका चरित्र अशुचिभावनाकी प्रामाणिकता बतानेके लिए यहाँ शुरू किया जाता है।

यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे।" देवताने कहा, "इस रोगको दूर करनेकी समर्थता तो मैं नही रखता।" बादमे साधुने अपनी लब्धिके परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोगपर लगाया कि तत्काल उस रोगका विनाश हो गया, और काया फिर जैसी थी वैसी हो गयी। बादमे उस समय देवने अपना स्वरूप प्रगट किया; धन्यवाद देकर एवं वंदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महा रोगकी उत्पत्ति जिस कायामे होती है; पलभरमे विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है; जिसके प्रत्येक रोममे पौने दो दो रोगोका निवास है; वैसे साढे तीन करोड़ रोमोंसे पूर्ण होनेसे करोड़ों रोगोका वह भंडार है, ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्नादिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामे प्रगट होता है, मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मास, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है; उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है! सनत्कुमारने जिसका लेश मात्र मान किया वह भी जिससे सहन नहीं हुआ उस कायामे अहो पामर! तू क्या मोह करता है? 'यह मोह मगलदायक नही है।'[१]

ऐसा होनेपर भी आगे चलकर मनुष्यदेहको सर्व-देहोत्तम कहना पड़ेगा। इससे सिद्धगतिकी सिद्धि है, यह कहनेका आशय है। उस स्थानपर निःशक होनेके लिए यहाँ नाममात्रका व्याख्यान किया है।

आत्माके शुभ कर्मका जब उदय आता है तब उसे मनुष्यदेह प्राप्त होती है। मनुष्य अर्थात् दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो ओष्ठ और एक नाकवाली देहका अधीश्वर नही है।

---

१. द्वि० आ० पाठा० 'यह किंचित् स्तुतिपात्र नही है।'

२ देखें मोक्षमाला शिक्षापाठ ४—मानवदेह।

परन्तु उसका मर्म भिन्न ही है। यदि इस प्रकार अविवेक दिखायें तो फिर वानरको मनुष्य माननेमे क्या दोष है? उस वेचारेने तो एक पूँछ भी अधिक प्राप्त की है। पर नही, मनुष्यत्वका मर्म यह है—विवेकवुद्धि जिसके मनमें उदित हुई है, वही मनुष्य है; बाकी सभी इसके विना दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरतर इस मानवत्वका मर्म इसी प्रकार प्रकाशित करते हैं। विवेकवुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमे प्रवेश किया जाता है। और इस मार्गमें प्रवेश ही मानवदेहकी उत्तमता है। तो भी यह वात ध्यानमे रखना उचित है कि यह देह केवल अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसे छोड़कर इसके स्वभावमे और कुछ नही है।

भावनावोध ग्रन्थमे अशुचिभावनाके उपदेशके लिए प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टांत और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन षष्ठ चित्र

निवृत्तिबोध

नाराचछंद

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता।
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता!!
उघाड न्याय-नेत्र ने निहाळ रे! निहाळ तुं;
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं॥

विशेषार्थ—जिसमे एकांत और अनंत सुखकी तरगें उछलती है, ऐसे शील एव ज्ञानको, केवल नाममात्रके दुःखसे तंग आकर, मित्ररूप न मानते हुए उनमे अप्रीति करता है, और संसारके जो केवल अनत दुःखमय नाममात्रके सुख है, उनमे तेरा परिपूर्ण प्रेम

दृष्टान्त—जो जो ऋद्धि, सिद्धि और वैभव भरतेश्वरके चरित्रमे वर्णित किये, उन सब वैभवादिसे युक्त सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अनुपम था। एक वार सुधर्म सभामे उस रूपकी स्तुति हुई। किन्ही दो देवोको यह वात नही रुची। वादमे वे दोनो शंका दूर करनेके लिए विप्रके रूपमे सनत्कुमारके अत पुरमे गये। उस समय सनत्कुमारकी देहमे उवटन लगा हुआ था, और अगमर्दनादिक पदार्थोका मात्र विलेपन था। एक छोटी अगोछी पहनी हुई थी। और वे स्नानमज्जन करनेके लिए वैठे थे। विप्रके रूपमे आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी कान्ति देखकर वहुत आनदित हुए और जरा सिर हिलाया। इसलिए चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यो हिलाया?" देवोने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिए वहुत अभिलाषी थे। हमने जगह-जगह आपके रूप एवं वर्णकी स्तुति सुनी थी, आज वह वात हमे प्रमाणित हुई, अत. हमे आनंद हुआ, और सिर इसलिए हिलाया कि जैसा लोगोमे कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है। उससे अधिक है परन्तु कम नही।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमे आकर वोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु मै जव राजसभामे वस्त्रालकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिहासनपर वैठता हूँ, तव मेरा रूप और मेरा वर्ण देखने योग्य है, अव तो मै शरीरमे उवटन लगाकर वैठा हूँ। यदि उस समय आप मेरा रूप वर्ण देखेंगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और चकित हो जायेगे।" देवोने कहा, "तो फिर हम राजसभामे आयेंगे," यो कहकर वे वहाँसे चले गये।

उसके वाद सनत्कुमारने उत्तम और अमूल्य वस्त्रालकार धारण किये। अनेक उपकरणोसे अपने शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढगसे सजाकर वे राजसभामे आकर सिहासनपर वैठे। आसपास समर्थ मत्री, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद अपने-अपने आसनोपर वैठ

गये थे। राजेश्वर चमरछत्रसे और खमा खमाके उद्‌गारोसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्रके रूपमे आये। राजेश्वरको देखते ही उन्होने इस तरह सिर हिलाया कि मानो वे अद्‌भुत रूपवर्णसे आनन्दित होनेके वदले खिन्न हुए हैं। चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणो ! गत्त समयकी अपेक्षा इस समय आपने और ही तरहसे सिर हिलाया है, इसका कारण मुझे बतायें।" अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोने कहा, "हे महाराजन् ! उस रूपमे और इस रूपमे भूमि-आकाशका अंतर हो गया है।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिए उन्हे कहा। ब्राह्मणोने कहा, "अधि-राज ! पहली वार आपकी काया अमृततुल्य थी, इस बार विष-तुल्य है। इसलिए जव अग अमृततुल्य था तव हमे आनन्द हुआ था। इस समय विपतुल्य है अत. हमे खेद हुआ है। हम जो वात कहते हैं उसे सिद्ध करना हो तो आप अभी तावूल थूकें, तत्काल उस पर मक्षिका वैठेगी और परधामको प्राप्त होगी।

सनत्‌कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमें इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गयी थी। विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्‌कुमारके अंत करणमे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह ससार सर्वथा त्याग करने योग्य है। ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र मित्र आदिके शरीरमे है। यह सव मोह-मान करने योग्य नहीं है, यो कहकर वे छ खण्डकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जव साधुरूपमे विचरते थे तव महा रोग उत्पन्न हुआ। उनके सत्य-त्वकी परीक्षा लेनेके लिए कोई देव वहाँ वैद्यके रूपमे आया। साधुको कहा, "मैं वहुत कुशल राजवैद्य हूँ, आपकी काया रोगका भोग वनी हुई है, यदि इच्छा हो तो तत्काल उस रोगको दूर कर दूँ।" साधु वोले, "हे वैद्य ! कर्मरूप रोग महोन्मत्त है, इस रोगको दूर करनेकी यदि आपकी समर्थता हो तो भले मेरा यह रोग दूर करें।

है, यह कैसी विचित्रता है ! अहो चेतन ! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोको खोलकर देख ! रे देख !! देखकर शीघ्रमेव निवृत्ति अर्थात् महा वैराग्यको धारण कर, और मिथ्या कामभोगकी प्रवृत्तिको जला दे !

ऐसी पवित्र महा निवृत्तिको दृढीभूत करनेके लिए उच्च विरागी युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ प्रस्तुत करते हैं। तूने कैसे दुःखको सुख माना है ? और कैसे सुखको दुःख माना है ? इसे युवराजके मुखवचन वैसा ही सिद्ध करेंगे।

दृष्टान्त—नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोंसे सुशोभित सुग्रीव नामक एक नगर है। उस नगरके राज्यासनपर बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियवदा पटरानीका नाम मृगा था। इस दम्पतीसे बलश्री नामके एक कुमारने जन्म लिया था। मृगापुत्र उसका प्रख्यात नाम था। वह मातापिताको अत्यन्त प्रिय था। उस युवराजने गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी सयतिके गुणोको प्राप्त किया था। इसलिए वह दमीश्वर अर्थात् यतियोमे अग्रेसर गिना जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबंद आनन्दकारी प्रासादमे अपनी प्राणप्रिया सहित दोगुदक देवताकी भाँति विलास करता था। वह निरतर प्रमुदित मनसे रहता था। प्रासादका दीवानखाना चद्रकातादि मणियो तथा विविध रत्नोंसे जडित था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमे बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका परिपूर्ण निरीक्षण होता था। जहाँ चार राजमार्ग मिलते थे ऐसे चौकमे उसकी दृष्टि वहाँ पडी कि जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। उसने वहाँ महा तप, महा नियम, महा सयम, महा शील, और महा गुणोंके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ज्यों ज्यो समय बीतता जाता है त्यो त्यो मृगापुत्र उस मुनिको खूब ध्यानसे देख रहा है।

इस निरीक्षणसे वह इस प्रकार बोला—"जान पडता है कि ऐसा रूप मैंने कही देखा है। और यो बोलते बोलते वह कुमार शुभ परिणामको प्राप्त हुआ। मोहपट दूर हुआ और वह उपशमताको प्राप्त हुआ। जातिस्मृतिज्ञान प्रकाशित हुआ। पूर्व जातिकी स्मृति उत्पन्न होनेसे महा ऋद्धिके भोक्ता उस मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका स्मरण भी हो आया। शीघ्रमेव वह विषयमे अनासक्त हुआ और सयममे आसक्त हुआ। मातापिताके पास आकर बोला, "पूर्व भवमे मैंने पाँच महाव्रत सुने थे, नरकके अनन्त दु ख भी सुने थे, तिर्यंचके अनन्त दुःख भी सुने थे। उन अनन्त दु खोसे खिन्न होकर मै उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए हे गुरुजनो ! मुझे उन पाँच महाव्रतोको धारण करनेकी अनुज्ञा दें।"

कुमारके निवृत्ति पूर्ण वचन सुनकर मातापिताने उसे भोग भोगनेका आमत्रण दिया। आमत्रण-वचनसे खिन्न होकर मृगापुत्र यो कहता है—"अहो मात ! और अहो तात ! जिन भोगोके लिए आप आमत्रण देते हैं उन भोगोको मै भोग चुका हूँ। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान हैं, भोगनेके बाद कड़वे विपाकको देते हैं और सदैव दु खोत्पत्तिके कारण हैं। यह शरीर अनित्य और केवल अशुचिमय है, अशुचिसे उत्पन्न हुआ है, यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनन्त दु.खोका हेतु हैं। यह शरीर रोग, जरा और क्लेशादिका भाजन है, इस शरीरमे मैं कैसे रति करूँ ? फिर ऐसा कोई नियम नही है कि यह शरीर बचपनमें छोडना या बुढ़ापेमे। यह शरीर पानीके फेनके बुलबुले जैसा है। ऐसे शरीरमे स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है ? मनुष्यभवको प्राप्त होकर यह शरीर कोढ, ज्वर आदि व्याधियोसे तथा जरा-मरणसे ग्रसित रहा है। इससे मैं कैसे प्रेम करूँ ?

"जन्मका दु ख, जराका दु ख, रोगका दु ख, मरणका दु ख,

इस तरह यह ससार केवल दु खका हेतु है। भूमि, क्षेत्र, आवास, कचन, कुटुम्ब, पुत्र, प्रमदा, वाघव, इन सबको छोडकर मात्र क्लेश पाकर इस शरीरको छोड़कर अवश्यमेव जाना है। जैसे किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नही है वैसे भोगका परिणाम भी सुखदायक नही है। जैसे कोई पुरुष महा प्रवासमे अन्न-जल साथमे न ले और क्षुधा-तृषासे दु खी हो, वैसे ही धर्मके अनाचरणसे परभवमे जाता हुआ वह पुरुष दुःखी हो, जन्म-जरादिकी पीडा पाये। जिस प्रकार महा प्रवासमे जाता हुआ जो पुरुष अन्न-जलादि साथमे ले, वह पुरुष क्षुधा-तृषासे रहित होकर सुख पाये; उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमे जाता हुआ सुख पाये, अल्प कर्मरहित हो और असातावेदनीयसे रहित हो। हे गुरुजनो! जैसे किसी गृहस्थका घर प्रज्वलित होता है तब उस घरका धनी वस्त्रादिको ले जाकर जीर्ण वस्त्रादिको वही छोड़ देता है, वैसे ही लोकको जलता हुआ देखकर जीर्ण वस्त्ररूप जरा-मरणको छोडकर अमूल्य आत्माको उस दाहसे (आप आज्ञा दें तो मै) बचाऊँगा।"

मृगापुत्रके वचन सुनकर मातापिता शोकार्त हुए और बोले, "हे पुत्र! यह तू क्या कहता है? चारित्रका पालना अति दुष्कर है। यतिको क्षमादिक गुण धारण करने पडते हैं, निबाहने पडते हैं, और यतनासे सँभालने पडते हैं। संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पडता है, संयतिको अपनी आत्मा और परात्मापर समबुद्धि रखनी पडती है, अथवा सर्व जगतपर समान भाव रखना पड़ता है। ऐसा पालनेमे दुष्कर प्राणातिपात विरति प्रथम व्रत, उसे जीवन पर्यन्त पालना पडता है। सयतिको सदैव अप्रमत्ततासे मृषा वचनका त्याग करना और हितकारी वचन बोलना, ऐसा पालनेमे दुष्कर दूसरा व्रत धारण करना पडता है। सयतिको दंतशोधनके लिए एक सलाईके भी अदत्तका त्याग करना और निरवद्य एवं दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना, ऐसा पालनेमे दुष्कर तीसरा

व्रत धारण करना पडता है। कामभोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्यके धारण करनेका त्याग करके ब्रह्मचर्यरूप चौथा व्रत संयतिको धारण करना तथा उसका पालन करना बहुत दुष्कर है। धनधान्य, दास-समुदाय, परिग्रहके ममत्वका वर्जन और सभी प्रकारके आरम्भका त्याग करके केवल निर्ममत्वसे पाँचवाँ व्रत सयतिको धारण करना अति विकट है। रात्रिभोजनका वर्जन तथा घृतादि पदार्थोंके वासी रखनेका त्याग करना अति दुष्कर है।

'हे पुत्र! तू चारित्र चारित्र क्या करता है? चारित्र जैसी दु:खप्रद वस्तु दूसरी कौनसी है? क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, शीतका-परिषह सहन करना, उष्ण तापका परिषह सहन करना, डाँस-मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोश-का परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृणादिके स्पर्शका परिषह सहन करना, तथा मैलका परिषह सहन करना, हे पुत्र! निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है? वधका परिषह और बन्धका परिषह कैसे विकट है? भिक्षाचरी कैसी दुष्कर है? याचना करना कैसा दुष्कर है? याचना करनेपर भी प्राप्त न हो, यह अलाभ परिषह कैसा दुष्कर है? कायर पुरुषके हृदयका भेदन कर डालनेवाला केशलुचन कैसा विकट है? तू विचार कर, कर्मवैरीके लिए रौद्र ब्रह्मचर्य व्रत कैसा दुष्कर है? सचमुच! अधीर आत्माके लिए यह सब अति अति विकट है।

"प्रिय पुत्र! तू सुख भोगनेके योग्य है। तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिसे निर्मल स्नान करनेके योग्य है। प्रिय पुत्र! निश्चय ही तू चारित्र पालनेके लिए समर्थ नही है। जीवन पर्यन्त इसमे विश्राम नही है। सयतिके गुणोका महा समुदाय लोहेकी भाँति बहुत भारी है। सयमका भार वहन करना अति अति विकट है। जैसे आकाशगगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें सयम महा दुष्कर है। जैसे स्रोतके विपरीत जाना दुष्कर

है, वैसे ही यौवनमे सयम महा दुष्कर है। भुजाओमे जैसे समुद्रको तरना दुष्कर है वैसे ही यौवनमे सयम गुणसमुद्र पार करना महा दुष्कर है। जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही सयम भी नीरस है। जैसे खड्ग धारापर चलना विकट है वैसे ही तपका आचरण करना महा विकट है। जैसे सर्प एकात अर्थात् सीधी दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमे ईर्यासमितिके लिए एकातिक चलना महा दुष्कर है। हे प्रिय पुत्र। जैसे लोहेके चने चबाना दुष्कर है वैसे ही सयमका आचरण करना दुष्कर है। जैसे अग्निकी शिखा पीना दुष्कर है, वैसे ही यौवनमे यतित्व अगीकार करना महा दुष्कर है। सर्वथा मद सहननके धनी कायर पुरुषका यतित्व प्राप्त करना तथा पालना दुष्कर है। जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तौलना दुष्कर है वैसे ही निश्चलतासे, नि.शकतासे दशविध यतिधर्मका पालन करना दुष्कर है। जैसे भुजाओसे स्वयभूरमणसमुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्यके लिए उपशमरूपी समुद्रका पार करना दुष्कर है।

"हे पुत्र। शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार मनुष्यसबधी भोगोको भोगकर भुक्तभोगी होकर तूने वृद्धावस्थामे धर्मका आचरण करना।"

मातापिताका भोगसंबंधी उपदेश सुनकर वह मृगापुत्र माता-पितासे इस तरह बोल उठा—

"जिसे विषयकी वृत्ति न हो उसे सयम पालना कुछ भी दुष्कर नही है। इस आत्माने शारीरिक एव मानसिक वेदना असातारूपसे अनत वार सहन की है, भोगी है। इस आत्माने महा दु खसे पूर्ण, भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ भोगी है। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम हैं। चतुर्गतिरूप ससाराटवीमे चक्कर काटते हुए अति रौद्र दु ख मैने भोगे हैं। हे गुरुजनो! मनुष्यलोकमे

जो अग्नि अतिशय उष्ण मानी गयी है, उस अग्निसे अनत गुनी उष्ण ताप वेदना नरकमे इस आत्माने भोगी है। मनुष्यलोकमे जो ठड अति शीतल मानी गयी है उस ठडसे अनंत गुनी ठड नरकमे इस आत्माने असातासे भोगी है। लोहमय भाजनमे ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवतासे वैक्रिय की हुई धायँ धायँ जलती हुई अग्निमे आक्रदन करते हुए इस आत्माने अत्युग्र दु ख भोगे है। महा दवकी अग्नि जैसे मरुदेशमे जैसी वालू है उस वालू जैसी वज्र-मय वालू कदंव नामक नदीकी वालू है, उस सरीखो उष्ण बालूमे पूर्व कालमें मेरी इस आत्माको अनत बार जलाया है।

"आक्रदन करते हुए मुझे पकानेके लिए पकानेके बरतनमे अनंत बार डाला गया है। नरकमे महा रौद्र परमाधामियोने मुझे मेरे कडवे विपाकके लिए अनत बार ऊँचे वृक्षकी शाखासे बाँधा था। बान्धवरहित मुझे लम्बी करवतसे चीरा था। अति तीक्ष्ण काँटोसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षसे बाँधकर मुझे महा खेद दिया था। पाशमे बाँधकर आगे-पीछे खीचकर मुझे अति दु खी किया था। अत्यत असह्य कोल्हूमे ईखकी भाँति आक्रदन करता हुआ मै अति रौद्रतासे पेला गया था। यह सब जो भोगना पडा वह मात्र अपने अशुभ कर्मके अनत बारके उदयसे ही भोगना पड़ा। सामनामा परमाधामीने मुझे कुत्ता बनाया, शबलनामा परमाधामीने उस कुत्तेके रूपमे मुझे जमीन पर पटका, जीर्ण वस्त्रकी भाँति फाडा, वृक्षकी भाँति छेदा, उस समय मैं अतीव तड़फडाता था।

"विकराल खड्गसे, भालेसे तथा दूसरे शस्त्रसे उन प्रचडोने मुझे विखाडत किया था। नरकमे पाप कर्मसे जन्म लेकर विषम जातिके खडोका दु ख भोगनेमे कमी नही रही। परतन्त्रतासे अनत प्रज्वलित रथमे रोझकी भाँति बरबस मुझे जोता गया था। महिष-की भाँति देवताकी वैक्रिय की हुई अग्निमें मै जला था। मैं भुरता

होकर असातासे अत्युग्र वेदना भोगता था। ढंक-गीध नामके विकराल पक्षियोकी सँडसे जैसी चोचोंसे चूँथा जाकर अनत बिल-बिलाहटसे कायर होकर मै विलाप करता था। तृषाके कारण जलपानके चिन्तनसे वेगमे दौडते हुए, वैतरणीका छरपलाकी धार जैसा अनंत दु खद पानी मैने पाया था। जिसके पत्ते खड्गकी तीव्र धार जैसे हैं और जो महा तापसे तप रहा है, वह असिपत्रवन मुझे प्राप्त हुआ था; वहाँ पूर्व कालमे मुझे अनन्त बार छेदा गया था। मुद्गरसे, तीव्र शस्त्रसे, त्रिशूलसे, मूसलसे तथा गदासे मेरे शरीरके टुकडे किये गये थे। शरणरूप सुखके विना मैंने अशरणरूप अनन्त दु ख पाया था। वस्त्रकी भाँति मुझे छरपलाकी तीक्ष्ण धारसे, छुरीसे और कैंचीसे काटा गया था। मेरे खड खड करके टुकडे किये गये थे। मुझे तिरछा छेदा गया था। चररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गयी थी। इस प्रकार मैंने अनत दु ख पाया था।

"मैं परवशतासे मृगकी भाँति अनंत बार पाशमें पकडा गया था। परमाधामियोने मुझे मगर-मच्छके रूपमे जाल डालकर अनन्त बार दु ख दिया था। मुझे बाजके रूपमे पक्षीको भाँति जालमे बाँध कर अनन्त बार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनन्त बार वृक्षकी तरह काटकर मेरे सूक्ष्म टुकडे किये गये थे। जैसे लुहार घनसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्व काल-मे परमाधामियोंने अनन्त बार पीटा था। ताँबे, लोहे और सीसेको अग्निसे गला कर उनका उबलता हुआ रस मुझे अनन्त बार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधामी मुझे यो कहते थे कि पूर्व भव-मे तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खड-खड टुकडे अनन्त बार निगले थे। मद्यकी प्रियताके लिए भी मुझे इससे कुछ कम दु ख उठाना नही पडा। इस प्रकार मैंने महा भयसे, महा त्राससे और महा दु खसे कपायमान काया द्वारा अनन्त वेदनाएँ भोगी थी। जो वेदनाएँ सहन करनेमे अति

तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट कालस्थितिवाली है, और जो सुननेमे भी अति भयंकर हैं; वे मैंने नरकमे अनन्त वार भोगी थी। जैसी वेदना मनुष्यलोकमे है वैसी दीखती परन्तु उससे अनन्त गुनी अधिक असातावेदना नरकमे थी। मैंने सभी भवोमे असातावेदना भोगी है। निमेप मात्र भी वहाँ साता नही है।"

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्य भावसे ससार-परिभ्रमणके दु ख कह सुनाये। इसके उत्तरमे उसके मातापिता इस प्रकार वोले—"हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो दीक्षा ग्रहण कर, परन्तु चारित्रमे रोगोत्पत्तिके समय उपचार कौन करेगा? दु ख-निवृत्ति कौन करेगा? इसके विना अति दुष्कर है।" मृगापुत्रने कहा—"यह ठीक है, परन्तु आप विचार करें कि अटवीमे मृग तथा पक्षी अकेले ही होते हैं, उन्हे रोग उत्पन्न होता है तव उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमें मृग विहार करता है वैसे ही मैं चारित्रवनमे विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध सयम-का अनुरागी वनूँगा, वारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जव मृगको वनमे रोगका उपद्रव होता है, तव उसका इलाज कौन करता है?" ऐसा कहकर वह पुनः वोला, "कौन उस मृगको औषध देता है? कौन उस मृगको आनन्द, शाति और सुखकी वात पूछता है? कौन उस मृगको आहार, जल लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवमुक्त होनेके वाद गहन वनमे जहाँ सरोवर होता है वहाँ जाता है, तृण पानी आदिका सेवन करके फिर जैसे वह मृग विचरता है वैसे ही मैं विचरूँगा। सारांश यह कि मैं तद्रूप मृगचर्याका आचरण करूँगा और मृगकी भाँति सयमवान् वनूँगा। अनेक स्थलोमे विचरता हुआ यति मृगकी भाँति अप्रतिवद्ध रहे। मृगकी तरह विचरण करके, मृगचर्याका सेवन करके और सावद्यको टाल कर यति विचरे। जैसे मृग तृण, जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति भी गोचरी करके संयमभारका निर्वाह

करे। दुराहारके लिए गृहस्थकी अवहेलना न करे, निंदा न करे, ऐसे सयमका मैं आचरण करूँगा।"

"एवं पुत्ता जहासुखं—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसे कर।" इस प्रकार मातापिताने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलनेके बाद ममत्व-भावका छेदन करके जैसे महा नाग कचुकका त्याग करके चला जाता है वैसे ही वह मृगापुत्र ससारका त्याग कर सयम-धर्ममे सावधान हुआ। कचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, जाति और सगे सबधियोका परित्यागी हुआ। जैसे वस्त्रको झटक कर धूलको झाड़ डालते हैं वैसे ही वह सब प्रपच छोडकर दीक्षा लेनेके लिए निकल पडा। वह पवित्र पाँच महाव्रतसे युक्त हुआ, पच समितिसे सुशोभित हुआ, त्रिगुप्तिसे अनुगुप्त हुआ, बाह्याभ्यंतर द्वादश तपसे सयुक्त हुआ, ममत्वरहित हुआ, निरहकारी हुआ। स्त्री आदिके सगसे रहित हुआ, और सभी प्राणियोमे उसका समभाव हुआ। आहार जल प्राप्त हो या न हो, सुख या दु ख, जीवन हो या मरण, कोई स्तुति करे या कोई निन्दा करे, कोई मान दे या कोई अपमान करे, उन सब पर वह समभावी हुआ। ऋद्धि, रस और सुख इस त्रिगारवके अहपदसे वह विरक्त हुआ। मनदड, वचनदड और तनदडसे निवृत्त हुआ। चार कषायसे विमुक्त हुआ। मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्या-त्वशल्य इस त्रिशल्यसे विरागी हुआ। सप्त महा भयसे वह अभय हुआ। हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ। निदानरहित हुआ। राग-द्वेषरूपी बन्धनसे छूट गया। वाछारहित हुआ। सभी प्रकारके विलासोसे रहित हुआ। कोई तलवारसे काटे और कोई चन्दनका विलेपन करे, उसपर समभावी हुआ। उसने पाप आनेके सभी द्वार रोक दिये। शुद्ध अन्त करणसहित धर्मध्यानादिके व्यापारमे वह प्रशस्त हुआ। जिनेन्द्रके शासनतत्त्वमे परायण हुआ। ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे, प्रत्येक महाव्रतकी पाँच भावनाओ-से अर्थात् पाँच महाव्रतोकी पच्चीस भावनाओसे और निर्मलतासे

वह अनुपम विभूषित हुआ। सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्ष तक आत्म-चारित्रका परिसेवन करके एक मासका अनशन करके वह महा ज्ञानी युवराज मृगापुत्र प्रधान मोक्षगतिमे चला गया।

प्रमाणशिक्षा—तत्त्वज्ञानियोने सप्रमाण सिद्ध की हुई द्वादश भावनाओमेसे संसारभावनाको दृढ करनेके लिए मृगापुत्रके चारित्र-का यहाँ वर्णन किया गया है। ससाराटवीमे भ्रमण करते हुए अनन्त दु ख है, यह विवेक सिद्ध है; और इसमे भी, जिसमे निमेषमात्र भी सुख नही ऐसी नरकाधोगतिके दु:खोका वर्णन युव ज्ञानी योगीद्र मृगापुत्रने अपने मातापिताके समक्ष किया है, वह केवल ससारसे मुक्त होनेके लिए विरागी उपदेश प्रदर्शित करता है। आत्मचारित्र-को धारण करनेमे तपपरिषहादिके वहिर्दु:खको दु ख माना है, और महाधोगतिके परिभ्रमणरूप अनन्त दु खको बहिर्भाव मोहनीसे सुख माना है, यह देख कैसी भ्रमविचित्रता है? आत्मचारित्रका दु ख दु ख नही परन्तु परम सुख है, और परिणाममे अनन्त सुखसागरकी प्राप्तिका कारण है, और भोगविलासादिका सुख जो क्षणिक एव बहिर्दष्ट सुख है वह केवल दु ख ही है, और परिणाममे अनन्त दु:ख-का कारण है, इसे सप्रमाण सिद्ध करनेके लिए महा ज्ञानी मृगापुत्र-का वैराग्य यहाँ प्रदर्शित किया है। इस महा प्रभावक, महा यशस्वी मृगापुत्रकी भाँति जो साधु तपादिक और आत्मचारित्रादिक शुद्धा-चरण करे, वह उत्तम साधु त्रिलोकमे प्रसिद्ध और प्रधान परम-सिद्धिदायक सिद्धगतिको पाये। ससारममत्वको दु खवृद्धिरूप मानकर तत्त्वज्ञानी इस मृगापुत्रकी भाँति परम सुख और परमानदके लिए ज्ञानदर्शनचारित्ररूप दिव्य चिंतामणिकी आराधना करते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (ससारभावनारूपसे) ससार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तिका उपदेश देता है। इस परसे अंतर्दर्शनका नाम निवृत्तिबोध रखकर

आत्मचारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका यह चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी ससारपरिभ्रमणनिवृत्ति और सावद्य उपकरणनिवृत्तिका पवित्र विचार निरतर करते हैं।

इति अन्तर्दर्शनके संसारभावनारूप छठे चित्रमें मृगापुत्रचरित्र समाप्त हुआ।

०

सप्तम चित्र

आस्रवभावना

द्वादश अविरति, षोडश कषाय, नव नोकषाय, पच मिथ्यात्व, और पचदश योग यह सव मिलकर सत्तावन आस्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश करनेके प्रणाल हैं।

दृष्टान्त—महा विदेहमे विशाल पुंडरीकिणी नगरीके राज्य-सिहासनपर पुडरीक और कुडरीक नामके दो भाई आरूढ थे। एक बार वहाँ महा तत्त्वज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य वचनामृतसे कुडरीक दीक्षानुरक्त हुआ और उसने घर आनेके बाद पुडरीकको राज्य सौपकर चारित्र अंगीकार किया। सरस-नीरस आहार करनेसे थोड़े समयमे वह रोगग्रस्त हो गया, जिससे उसके चारित्रपरिणामका भग हो गया। उसने पुडरीकिणी महा नगरीको अशोकवाटिकामे आकर ओघा और मुखपटी वृक्षपर लटका दिये। वह निरन्तर यह परिचिंतन करने लगा कि पुडरीक मुझे राज देगा कि नही? वनरक्षकने कुंडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकको विदित किया कि आकुलव्याकुल होते हुए आपके भाई अशोकबागमे ठहरे हुए हैं। पुडरीकने आकर कुडरीकके मनोभाव देखे और उसे चारित्रसे डगमगाते हुए देखकर कुछ उपदेश देनेके बाद राज सौपकर घर आया।

कुडरीककी आज्ञाको सामंत या मत्री कोई भी नही मानते थे, और वह हजार वर्ष तक प्रव्रज्या पालकर पतित हुआ, इसलिए उसे धिक्कारते थे। कुडरीकने राज्यमे आनेके बाद अति आहार किया। इस कारण वह रात्रिमे अति पीडित हुआ और वमन हुआ। अप्रीतिके कारण उसके पास कोई नही आया, इससे उसके मनमे प्रचण्ड क्रोध आया। उसने निश्चय किया कि इस पीड़ासे यदि मुझे शांति मिले तो फिर प्रभातमे इन सबको मैं देख लूँगा। ऐसे महा दुर्ध्यानसे मर कर वह सातवे नरकमें अपयठाण पाथड़मे तैंतीस सागरोपमकी आयुके साथ अनन्त दु:खमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आस्रवद्वार !!

इति सप्तम चित्रमें आस्रवभावना समाप्त हुई।

●

अष्टम चित्र

संवरभावना

संवरभावना—उपर्युक्त आस्रवद्वार और पापप्रणालको सर्वथा रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) यह संवरभाव है।

दृष्टांत—(१) (कुडरीकका अनुसंवध) कुंडरीकके मुखपटी इत्यादि उपकरणोको ग्रहण करके पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिये और उसके बाद ही अन्न-जल ग्रहण करना चाहिये। नगे पैरोंसे चलनेके कारण पैरोमे ककर एव कांटे चुभनेसे लहूकी धाराएँ बह निकली, तो भी वह उत्तम ध्यानमे समताभावसे रहा। इसलिए यह महानुभाव पुंडरीक मर कर समर्थ सर्वार्थसिद्ध विमानोमें तैंतीस सागरोपमकी उत्कृष्टता आयु-सहित देव हुआ। आस्रवसे कुंडरीककी कैसी दु खदशा ! और सवरसे पुंडरीककी कैसी सुखदशा !!

दृष्टांत—(२) वज्रस्वामी कचनकामिनीके द्रव्यभावसे सर्वथा

परित्यागी थे । एक श्रीमतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको सुनकर उनपर मोहित हो गयी । घर आकर उसने मातापितासे कहा, "यदि मैं इस देहसे पति करूँ, तो मात्र वज्रस्वामीको ही करूँ, अन्यके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है ।" रुक्मिणीको उसके मातापिताने वहुत ही कहा, "पगली ! विचार तो सही कि मुनिराज और वे विवाह करें ? उन्होने तो आस्रवद्वारको सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है ।" तो भी रुक्मिणीने कहना नही माना । निरुपाय होकर धनावा सेठने कुछ द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथ लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे वहाँ आकर कहा, "यह लक्ष्मी है, इसका आप यथा-रुचि उपभोग करें, और वैभवविलासमे लगायें, और इस मेरी महा सुकोमला रुक्मिणी नामकी पुत्रीसे पाणिग्रहण करे ।" यों कहकर वह अपने घर चला आया ।

यौवनसागरमे तैरती हुई रूपराशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोगसंवंधी उपदेश किया, भोगके सुखोका अनेक प्रकारसे वर्णन किया, मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके अन्य विचलित करनेके उपाय किये, परंतु वे सर्वथा वृथा गये, महा सुदरी रुक्मिणी अपने मोहकटाक्षमे निष्फल हुई । उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी भाँति अचल और अडोल रहे । रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सभी उपदेशो तथा हावभावोंसे वे लेश मात्र भी नही पिघले । ऐसी महा विशाल दृढ़तासे रुक्मिणीने वोध प्राप्त करके निश्चय किया कि ये समर्थ जितेंद्रिय महात्मा कभी चलित होनेवाले नही है । लोहे और पत्थरको पिघलना तो सरल है, परन्तु इन महा पवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक होते हुए भी अधोगतिका कारणरूप है । इस प्रकार सुविचार करके उस रुक्मिणीने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभ क्षेत्रमें लगाकर चारित्रको ग्रहण किया, मन, वचन और कायाका अनेक

प्रकारसे दमन करके आत्मार्थ साधा। तत्त्वज्ञानी इसे सवरभावना कहते हैं।

इति अष्टम चित्रमें संवरभावना समाप्त हुई।

●

नवम चित्र

निर्जराभावना

द्वादश प्रकारके तपसे कर्म-समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। तपके वारह प्रकारमें छः वाह्य और छ. अभ्यंतर प्रकार हैं। अनशन, अनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश और सलीनता ये छ. बाह्य तप है। प्राय-श्चित्त, विनय, वैयावृत्य, शास्त्र-पठन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छः अभ्यंतर तप हैं। निर्ज़रा दो प्रकारकी है। एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जराभावनापर एक विप्र-पुत्रका दृष्टात कहते है।

दृष्टांत—किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सप्त व्यसनभक्त जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल पडा और जाकर उसने तस्करमंडलीसे स्नेहसंबंध जोड़ा। उस मडलीके अग्रेसरने उसे अपने काममे पराक्रमी जानकर पुत्र बनाकर रखा। वह विप्र पुत्र दुष्टदमन करनेमे दृढ़प्रहारी प्रतीत हुआ। इससे उसका उपनाम दृढ़प्रहारी रखा गया। वह दृढप्रहारी तस्करोमे अग्रेसर हो गया। नगर व ग्रामका नाश करनेमे वह प्रबल हिमतवाला सिद्ध हुआ। उसने वहुतसे प्राणियोके प्राण लिये। एक वार अपने संगतिसमुदाय-को लेकर उसने एक महा नगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर वैठा था। उस विप्रके यहाँ वहुत प्रेमभावसे क्षीरभोजन वना था। उस विप्रके मनोरथी वालबच्चे उस क्षीरभोजनके भाजनको घेरे

बैठे थे। दृढप्रहारी उस भाजनको छूने लगा, उस वक्त ब्राह्मणीने कहा, "हे मूर्खराज ! इसे क्यो छूता है ? यह फिर हमारे काम नही आयेगा, इतना भी तू नही समझता ?" दृढप्रहारीको उन वचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया और उसने उस दीन स्त्रीको कालधर्मका भोग बना दिया। नहाता नहाता ब्राह्मण सहायताके लिए दौड़ आया, उसे भी उसने परभवको पहुँचा दिया। इतनेमे घरमेंसे गाय दौडती हुई आयी, और उसने सीगोंसे दृढप्रहारीको मारना शुरू किया। उस महा दुष्टने उसे भी कालके हवाले कर दिया। उस गायके पेटमेसे एक बछडा निकल पड़ा; उसे तड़फडाता देखकर दृढप्रहारीके मनमे बहुत पश्चात्ताप हुआ, "मुझे धिक्कार है कि मैने महा घोर हिंसाएँ कर डाली। मेरा इस महा पापसे कब छुटकारा होगा ? सचमुच ! आत्मार्थ साधनेमे ही श्रेय है !"

ऐसी उत्तम भावनासे उसने पचमुष्टि केशलुचन किया। नगरके चौकमे आकर वह उग्र कायोत्सर्गमे स्थित रहा। वह पहिले सारे नगरके लिए सतापरूप हुआ था, इसलिए लोग उसे बहुविध संताप देने लगे। आते जाते हुए लोगोंके धूल-ढेंलो, ईंट-पत्थरो और तलवारकी मूठोंसे वह अति संतापको प्राप्त हुआ। वहाँ लोगोने डेढ़ महीने तक उसे तिरस्कृत किया, फिर थके और उसे छोड़ दिया। दृढप्रहारी वहांसे कायोत्सर्ग पार कर दूसरे चौकमे ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गमे स्थित रहा। उस दिशाके लोगोने भी उसी तरह तिरस्कृत किया, डेढ़ महीने तक छेड़छाड कर छोड़ दिया। वहांसे कायोत्सर्ग पार कर दृढप्रहारी तीसरे चौकमे स्थित रहा। वहांके लोगोने भी बहुत तिरस्कृत किया। डेढ़ महीने बाद छोड देनेसे वह वहांसे चौथे चौकमें डेढ मास तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषह सहन करके वह क्षमाधर रहा। छठे मासमे अनन्त कर्म-समुदायको जलाकर उत्तरोत्तर शुद्ध होकर वह कर्मरहित हुआ। सर्व प्रकारके

ममत्वका उसने त्याग किया। अनुपम केवलज्ञान पाकर वह मुक्तिके अनंत सुखानंदसे युक्त हो गया। यह निर्जराभावना दृढ हुई। अब—

दशम चित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना—इस भावनाका स्वरूप यहाँ सक्षेपमे कहना है। जैसे पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोको चौड़ा करके खड़ा रहे, वैसे ही लोकनाल किंवा लोकस्वरूप जानना। वह लोकस्वरूप तिरछे थालके आकारका है। अथवा खड़े मर्दलके समान है। नीचे भवनपति, व्यंतर और सात नरक हैं। मध्य भागमें अढाई द्वीप हैं। ऊपर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उन-पर अनंत सुखमय पवित्र सिद्धोकी सिद्धशिला है। यह लोकालोक-प्रकाशक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरुपम केवल ज्ञानियोने कहा है। संक्षेपमे लोकस्वरूपभावना कही गयी।

पापप्रणालको रोकनेके लिए आस्रवभावना और सवरभावना, महाफली तपके लिए निर्जराभावना और लोकस्वरूपका किंचित् तत्त्व जाननेके लिए लोकस्वरूपभावना इस दर्शनके चार चित्रोंमे पूर्ण हुई।

दशम चित्र समाप्त।

ज्ञान, ध्यान, वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार।
ए भावे शुभ भावना, ते ऊतरे भव पार॥

भावार्थ—ज्ञान, ध्यान और वैराग्यमय उत्तम विचारोंके साथ जो इन शुभ भावनाओंका चिंतन करता है, वह संसारसे पार हो जाता है।

मोक्षमाला

(बालावबोध)

उपोद्घात

निर्ग्रंथ प्रवचनके अनुसार अति संक्षेपमें इस ग्रंथकी रचना करता हूँ। प्रत्येक शिक्षाविषयरूपी मनकेसे इसकी पूर्णाहुति होगी। आडंबरी नाम ही गुरुत्वका कारण है, यों समझते हुए भी परिणाममें अप्रमुखत्व रहा होनेसे इस प्रकार किया है, यह उचित सिद्ध होवे। उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका उपदेश करनेवाले पुरुष कुछ कम नही हुए हैं, और फिर यह ग्रंथ कुछ उससे उत्तम अथवा समान नही हैं, परन्तु विनयरूपमें उन उपदेशकोंके धुरंधर प्रवचनोंके आगे यह कनिष्ठ है। यह भी प्रमाणभूत है कि प्रधान पुरुषके समीप अनुचरकी आवश्यकता है, उसी तरह वैसे धुरंधर ग्रन्थोंके उपदेशबीजको बोने तथा अंतःकरणको कोमल करनेके लिए ऐसे ग्रन्थका प्रयोजन है।

इस प्रथम दर्शन और दूसरे अन्य दर्शनोंमें तत्त्वज्ञान और सुशीलकी प्राप्तिके लिए और परिणामतः अनन्त सुखसागरको प्राप्त करनेके लिए जो-जो साध्य-साधन श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने प्रकाशित किये हैं, उनका स्वल्पतासे किंचित् तत्त्वसंचय करके उसमें महापुरुषोंके छोटे-छोटे चरित्र शामिल करके इस भावनाबोध और इस मोक्षमालाको विभूषित किया है। वह—"विदग्धमुखमंडनं भवतु।"

[संवत् १९४३]

कर्ता पुरुष

शिक्षणपद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वादतत्त्वबोध वृक्षका बीज है। यह ग्रंथ तत्त्व-प्राप्तिकी जिज्ञासा उत्पन्न कर सकनेकी कुछ अशमे भी सामर्थ्य रखता है। यह समभावसे कहता हूँ। पाठक और वाचक वर्गसे मुख्य अनुरोध यह है कि शिक्षापाठोको मुखाग्र करनेकी अपेक्षा यथा-शक्ति मनन करना, उनके तात्पर्यका अनुभव करना, जो समझमें न आते हो उन्हे ज्ञाता शिक्षक या मुनियोसे समझना और यह योग न मिले तो पाँच सात बार उन पाठोको पढ जाना। एक पाठ पढ़ जानेके बाद आधी घड़ी उसपर विचार करके अतःकरणसे पूछना कि क्या तात्पर्य मिला ? उस तात्पर्यमेसे हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है ? इस प्रकार करनेसे सारा ग्रन्थ समझा जा सकेगा। हृदय कोमल होगा, विचारशक्ति खिलेगी और जैन तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा होगी। यह ग्रन्थ कुछ पठन करनेके लिए नही है, मनन करनेके लिए है। इसमें अर्थरूप शिक्षाकी योजना की है। यह योजना **'बालावबोध'** रूप है। **'विवेचन'** और **'प्रज्ञावबोध'** भाग भिन्न हैं, यह उनका एक खंड है, फिर भी सामान्य तत्त्वरूप है।

जिन्हे स्वभाषासंबंधी अच्छा ज्ञान है, और नव तत्त्व तथा सामान्य प्रकरण ग्रन्थोको जो समझ सकते हैं, उन्हे यह ग्रन्थ विशेष बोधदायक होगा। इतना तो अवश्य अनुरोध है कि छोटे बालकों-को इन शिक्षापाठोका तात्पर्य सविधि समझायें।

ज्ञानशालाके विद्यार्थियोंको शिक्षापाठ मुखाग्र करायें और बारं-बार समझायें। जिन-जिन ग्रंथोकी इसके लिए सहायता लेना योग्य हो वह ली जाये। एक दो बार पुस्तकको पूरा सीख लेनेके बाद उसका अभ्यास उलटेसे करायें।

मैं मान लेता हूँ कि सुज्ञ वर्ग इस पुस्तककी ओर कटाक्ष दृष्टिसे नही देखेगा। बहुत गहराईमे जानेसे यह मोक्षमाला मोक्षका कारण

रूप हो जायेगी। इसमे मध्यस्थतासे तत्त्वज्ञान और शीलका बोध देनेका उद्देश्य है।

इस पुस्तकको प्रसिद्ध करनेका मुख्य हेतु यह भी है कि जो उगते हुए बाल-युवक अविवेकी विद्या प्राप्त करके आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते हैं, उनकी भ्रष्टता रोकी जाये।

मनमाना उत्तेजन नही होनेसे लोगोकी भावना कैसी होगी इसका विचार किये विना ही यह साहस किया है; मैं मानता हूँ कि यह फलदायक होगा। शालामे पाठकोको भेटरूप देनेमे उत्साहित होनेके लिए और जैनशालामे इसका उपयोग करनेके लिए मेरा अनुरोध है। तभी पारमार्थिक हेतु सिद्ध होगा।

शिक्षापाठ १

वाचकसे अनुरोध

वाचक! मैं आज तुम्हारे हस्तकमलमे आती हूँ। मुझे यतना-पूर्वक पढो। मेरे कहे हुए तत्त्वको हृदयमे धारण करो। मै जो-जो बात कहूँ उस उसका विवेकसे विचार करो। यदि ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्गुण और आत्मशांति पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि कितने ही अज्ञानी मनुष्य न पढने योग्य पुस्तकें पढकर अपना वक्त खो देते हैं, और उलटे रास्ते पर चढ जाते हैं। वे इस लोकमे अपकीर्ति पाते हैं, तथा परलोकमे नीच गतिमें जाते हैं।

तुमने जिन पुस्तकोको पढा है, और अभी पढते हो, वे पुस्तकें मात्र ससारकी हैं, परन्तु यह पुस्तक तो भव और परभव दोनोमें तुम्हारा हित करेगी। इसमे भगवान्‌के कहे हुए वचनोका थोड़ा उपदेश किया है।

तुमने किसी प्रकारसे इस पुस्तककी अवज्ञा न करना, इसे न फाडना, इसपर दाग न लगाना या दूसरी किसी भी तरहसे न बिगाड़ना। सारा काम विवेकसे करना। विचक्षण पुरुषोने कहा है कि जहाँ विवेक है वही धर्म है।

तुमसे एक यह भी अनुरोध है कि जिन्हे पढना न आता हो और उनकी इच्छा हो तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हे पढकर सुनाना।

तुम जिस बातको न समझ पाओ उसे सयाने पुरुषसे समझ लेना। समझनेमें आलस्य या मनमे शंका नही करना।

तुम्हारी आत्माका इससे हित हो, तुम्हे ज्ञान, शांति और आनंद मिले, तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान्, विवेकी और बुद्धिशाली बनो, ऐसी शुभ याचना अर्हत् भगवान्‌से करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ।

●

शिक्षापाठ २

सर्वमान्य धर्म

चोपाई

धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने, तो संभळावुं स्नेहे तने;
जे सिद्धांत सकळनो सार, सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥

सर्वमान्य धर्म

भावार्थ—यदि तूने धर्मतत्त्व मुझसे पूछा है, तो उसे तुझे स्नेहसे सुनाता हूँ। जो सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य और सर्वहितकर है ॥ १ ॥

भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणीने दळवा दोष ॥ २ ॥
सत्य शीळ ने सघळां दान, दया होईने रह्यां प्रमाण;
दया नही तो ए नही एक, 'विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नही आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश, ए एकाते, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ! ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥

भगवान्‌ने प्रवचनमे कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नही है। दोषोका नाश करनेके लिए अभयदानके साथ प्राणियोको सतोष दो ॥ २ ॥

सत्य, शील और सभी दान दयाके होनेपर ही प्रमाणित हैं। जैसे सूर्यके विना किरणे नही हैं, वैसे ही दयाके न होनेपर सत्य, शील, दान आदि एक भी गुण नही है ॥ ३ ॥

जिस कर्मसे पुष्पकी एक पखड़ी भी दु खी होती हो, उस कर्मको करनेकी जिनवरकी आज्ञा ही नही है। सब जीवोका सुख चाहो यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

सब दर्शनोमे दयाका उपदेश है। यह एकात है, विशेष नही। सर्व प्रकारसे जिन भगवान्‌का यही बोध है कि दया एव विरोध-रहित निर्मल दया परम धर्म है ॥ ५ ॥

यह ससारसे पार करनेवाला सुदर मार्ग है, इसे उत्साहसे अपनाओ और ससार-सागरको तर जाओ। यह सकल धर्मका शुभ मूल है। इसके विना धर्म सदा अधर्म है ॥ ६ ॥

तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान् प्रसिद्ध, राजचंद्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे जान-समझ लेते हैं, वे इसके आचरणसे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचद्र कहते है कि शातिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध एव प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ७ ॥

●

शिक्षापाठ ३

कर्मके चमत्कार

मैं तुम्हे बहुतसी सामान्य विचित्राएँ बताये देता हूँ। यदि तुम इनपर विचार करोगे तो परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है, और एकको फटी-पुरानी गुदडी भी नसीव नही होती। एक भाँति-भाँतिके भोजनोसे तृप्त रहता है और एक दाने-दानेको तरसता है। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी कौड़ीके लिए दर-दर भटकता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक मूकसा होकर रहता है। एक सुदर वस्त्रालकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको कड़े जाडेमे चीथड़ा भी ओढ़नेको नही मिलता। एक रोगी है और एक प्रवल है। एक बुद्धिशाली है और एक जडभरत है। एक मनोहर नयनवाला है और एक अंधा है। एक लूला है और एक लगड़ा है। एक कीर्तिमान् है और एक अपयश भोगता है। एक लाखो अनुचरोंपर हुक्म चलाता है और एक लाखोके ताने सहन करता है। एकको देखकर आनद होता है और एकको देखकर वमन होता है। एककी इद्रियाँ संपूर्ण है और एककी अपूर्ण हैं। एकको दीनदुनियाका लेश भी भान नही है और एकके दु खका अंत भ नही है।

एक गर्भाधानसे मर जाता है, एक जन्म लेते ही मर जाता है, एक मरा हुआ जन्म लेता है, और एक सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति समान नही है। मूर्ख राजगद्दीपर खमा-खमाके उद्‌गारोसे अभिनदन पाते हैं और समर्थ विद्वान धक्के खाते हैं।

इस प्रकार सारे जगत्‌की विचित्रता भिन्न-भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो; इस परसे तुम्हे कुछ विचार आता है? मैने कहा है, फिर भी विचार आता हो तो कहो कि यह विचित्रता किससे होती है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे सारे ससारमें भ्रमण करना पडता है। परभव नही माननेवाला स्वय यह विचार किससे करता है? वह विचार करे तो अपनी यह बात वह भी मान्य रखे।

•

शिक्षापाठ ४

मानवदेह

*तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् मानवदेहको दूसरी सभी देहोकी अपेक्षा उत्तम कहते है। परतु उत्तम कहनेका कारण तुम नही जानते होगे इसलिए मै उसे कहता हूँ।

यह ससार बहुत दु.खसे भरा हुआ है। ज्ञानी इसमेसे तरकर पार होनेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमे विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे मिलनेवाला नही

* देखें 'भावनाबोध', पचम चित्र—प्रमाणशिक्षा।

है। देव, तिर्यंच या नरक इनमेसे किसी एक गतिसे भी मोक्ष नही है; मात्र मानवदेहसे मोक्ष है।

अब तुम पूछोगे कि सभी मानवोका मोक्ष क्यो नही होता ? इसका उत्तर भी मै कह दूँ। जो मानवताको समझते है वे ससार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमे विवेकबुद्धिका उदय हुआ हो उनमे विद्वान् मानवता मानते हैं। उससे सत्यासत्यका निर्णय समझकर, परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्मका सेवन करके वे अनुपम मोक्षको पाते हैं। मनुष्यके शरीरके देखावसे विद्वान् उसे मनुष्य नही कहते; परतु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो होठ और एक नाक हो उसे मनुष्य कहना, ऐसा हम न समझें। यदि ऐसा समझे तो फिर बदरको भी मनुष्य मानना चाहिए। उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महा मनुष्य कहे ? नही, जो मानवता समझे वही मानव कहलाये।

ज्ञानी कहते हैं कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है; इसलिए इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिए। अयमतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवताको समझनेसे मोक्षको प्राप्त हुए। मनुष्यमे जो अधिक शक्ति है उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको वशमे कर लेता है, इसी शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वशमे कर ले तो कितना कल्याण हो !

किसी भी अन्य देहमे पूर्ण सद्विवेकका उदय नही होता और मोक्षके राजमार्गमे प्रवेश नही हो सकता। इसलिए हमे मिली हुई अति दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है। बहुतसे मूर्ख दुराचारमे, अज्ञानमे, विषयमे और अनेक प्रकारके मदमे, मिली

हुई मानवदेहको वृथा गँवा देते हैं। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, अन्यथा वे वानररूप ही हैं।

मौतके पलको, निश्चयसे हम नही जान सकते; इसलिए यथा-सभव धर्ममे त्वरासे सावधान हो जाओ।

●

शिक्षापाठ ५

अनाथी मुनि—भाग १

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगधदेशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिए मडिकुक्ष नामके वनमे निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। नाना प्रकारके वृक्ष वहाँ नजर आ रहे थे, नाना प्रकारकी कोमल वेलें घटाटोप छायी हुई थी; नाना प्रकारके पक्षी आनदसे उसका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोके मधुर गान वहाँ सुनायी दे रहे थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था; नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ वह रहे थे, सक्षेपमें वह वन नदनवन जैसा लग रहा था। उस वनमें एक वृक्षके नीचे महान् समाधिमान् परतु सुकुमार एव सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उसका रूप देखकर वह राजा अत्यत आनदित हुआ। उपमारहित रूपसे विस्मित होकर मनमे उसकी प्रशसा करने लगा—"इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है। इसका कैसा मनोहर रूप है। इसकी कैसी अद्भुत सौम्यता है। यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है। इसके अगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है। इसकी कैसी निर्लोभता मालूम होती है! यह सयति कैसी निर्भय नम्रता रखता है। यह भोगसे कैसा विरक्त है।" यो चितन करते-करते, मुदित होते-होते, स्तुति करते-करते,

धीरेसे चलते-चलते, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वन्दन करके न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। फिर अंजलिबद्ध होकर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा—"हे आर्य! आप प्रशसनीय तरुण हैं; भोगविलासके लिए आपकी वय अनुकूल है; संसारमें नाना प्रकारके सुख है; ऋतु-ऋतुके कामभोग, जलसबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोके मुखवचनोका मधुर श्रवण होने पर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमे आप महान् उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण? यह मुझे अनुग्रहसे कहे।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मै अनाथ था, मुझे अपूर्व वस्तुको प्राप्त करानेवाला तथा योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परम सुखका देनेवाला, ऐसा मेरा कोई मित्र नही हुआ, यह कारण था मेरी अनाथताका।"

●

शिक्षापाठ ६

अनाथी मुनि—भाग २

श्रेणिक मुनिके भाषणसे मुस्कराकर बोला—"आपसे महान् ऋद्धिमान्का नाथ क्यो न हो? यदि कोई नाथ नही है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र, जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्यभवको सफल करे।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजन्! परतु तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सके? अबुध बुद्धिदान कहाँसे दे सके? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सके? वंध्या सतान कहाँसे दे सके? जब तू स्वयं अनाथ है, तब मेरा नाथ कहाँसे होगा?" मुनिके वचनोसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिन वचनो-

का कभी श्रवण नही हुआ था उन वचनोका यतिमुखसे श्रवण करके वह शकित हुआ और बोला—"मैं अनेक प्रकारके अश्वोका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका धनी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे अधीन है; नगर, ग्राम, अन्त पुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्यसबधी सभी प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये है, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति आराधन करते हैं, पाँचो प्रकारकी सपत्ति मेरे घरमें हैं, अनेक मनोवाछित वस्तुएँ मेरे पास रहती हैं। ऐसा मैं महान् होते हुए भी अनाथ कैसे हूँ? कही हे भगवन्! आप मृषा बोलते हो।" मुनिने कहा—"राजन्! मेरा कहना तू न्यायपूर्वक समझा नही है। अब मै जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र एवं सावधान चित्तसे सुनकर फिर अपनी शकाके सत्यासत्यका निर्णय करना—

"कौशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरी हुई एक सुदर नगरी थी। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामके मेरे पिता रहते थे। हे महाराजन्! यौवनवयके प्रथम भागमे मेरी आँखें अति वेदनासे ग्रस्त हुई। सारे शरीरमे अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण वह रोग वैरीकी भाँति मुझपर कोपायमान हुआ। आँखोकी असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। वज्रके प्रहार सरीखी, दूसरेको भी रौद्र भय उत्पन्न करनेवाली उस दारुण वेदनासे मैं अत्यन्त शोकमे था। बहुतसे वैद्यशास्त्रनिपुण वैद्यराज मेरी उस वेदनाका नाश करनेके लिए आये, अनेक औषधोपचार किये, परन्तु वे सब वृथा गये। वे महा निपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके। यही हे राजन्! मेरी अनाथता थी। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिए मेरे पिता सारा धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन्! यही मेरी अनाथता थी। मेरी माता पुत्र-

के शोकसे अति दुःखार्त हुई; परन्तु वे भी मुझे उस रोगसे छुडा नही सकी, यही हे राजन् ! मेरी अनाथता थी। एक पेटसे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाई भरसक प्रयत्न कर चुके; परन्तु मेरी वह वेदना दूर नही हुई, हे राजन् ! यही मेरी अनाथता थी। एक पेटसे जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोसे मेरा वह दु.ख दूर नही हुआ। हे महाराजन् ! यह मेरी अनाथता थी। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी वह अपने आंसुओसे मेरे हृदयको भिगोती थी। उसके अन्न-पानी देने पर भी और नाना प्रकारके उबटन, चूवा आदि सुगंधि पदार्थों तथा अनेक प्रकारके फूल चंदनादिके ज्ञात अज्ञात विलेपन किये जाने पर भी मैं उन विलेपनों-से अपना रोग शांत नही कर सका। जो स्त्री क्षणभर भी अलग न रहती थी वह स्त्री भी मेरे रोगको मिटा न सकी। यही हे महा राजन् ! मेरी अनाथता थी। इस प्रकार किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधसे, किसीके विलापसे या किसीके परिश्रमसे वह रोग शांत नही हुआ। उस समय मैंने पुनः पुनः असह्य वेदना भोगी। फिर मै प्रपंची संसारसे खिन्न हो गया। एक बार यदि इस महान् विडम्ब-नामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खती, दती और निरारंभी प्रव्रज्या-को धारण करूँ, यो चिन्तन करके मै सो गया। जब रात्रि व्यतीत हो गयी तब हे महाराजन् ! मेरी वह वेदना क्षीण हो गयी, और मै नीरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिसे पूछकर प्रभातमे मैंने महाक्षमावान्, इन्द्रिय-निग्रही, और आरभोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण किया।

●

शिक्षापाठ ७

अनाथी मुनि भाग—३

''हे श्रेणिक राजन् । तदनन्तर मै आत्मा परात्माका नाथ हुआ।

अब मैं सर्व प्रकारके जीवोका नाथ हूँ। तुझे जो शका हुई थी वह अब दूर हो गयी होगी। इस प्रकार सारा जगत् चक्रवर्ती पर्यन्त अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इसलिए मैं जो कहता हूँ उस कथनका तूने मनन कर जाना। निश्चयसे मानना किअपनी आत्मा ही दु खसे भरपूर वेतरणीको करनेवाली है, अपनी आत्मा ही क्रूर शाल्मलि वृक्षके दु खको उत्पन्न करनेवाली है। अपनी आत्मा ही वाछित वस्तुरूपी दूध देनेवाली कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करनेवाली है। अपनी आत्मा ही नन्दनवनकी तरह आनन्दकारी है। अपनी आत्मा ही कर्मको करनेवाली है। अपनी आत्मा ही इस कर्मको दूर करनेवाली है। अपनी आत्मा ही दु खोपार्जन करनेवाली है। अपनी आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाली है। अपनी आत्मा ही मित्र और अपनी आत्मा ही वैरी है। अपनी आत्मा ही निकृष्ट आचारमे स्थिति और अपनी आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहती है।"

इस प्रकार उन अनाथी मुनिने श्रेणिकको आत्मप्रकाशक बोध दिया। श्रेणिक राजाको बहुत सतोष हुआ। अजलिबद्ध होकर वह इस प्रकार बोला—"हे भगवन्! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया। आपने जैसी थी वैसी अनाथता कह सुनायी। महर्षि! आप सनाथ, सबाधव, और आप सधर्म हैं, आप सर्व अनाथोके नाथ है। हे पवित्र सयति! मै आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपको ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मैंने लाभ उठाया है। धर्मध्यानमे विघ्न करनेवाले भोग भोगने सम्बन्धी, हे महाभाग्यवान्! मैंने आपको जो आमन्त्रण दिया तत्सम्बन्धी अपने अपराधकी नतमस्तक होकर क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महा तपोधन महा मुनि, महा प्रज्ञावान्, महा यशस्वी, महा निर्ग्रंथ और महा श्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके राजा श्रेणिकको

अपने बीते हुए चरित्रसे जो बोध दिया है वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदना जैसी अथवा उससे अति विशेष वेदनाको भोगती हुई अनन्त आत्माओको हम देखते है, यह कैसा विचारणीय है! संसारमे अशरणता और अनंत अनाथता छा रही है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शील-का सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारणरूप है। जैसे संसारमे रहते हुए अनाथी अनाथ थे, वैसे ही प्रत्येक आत्मा तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८

सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्व हमे अवश्य जानने चाहिये। जब तक इन तत्त्वोंके सबबमे अज्ञानता रहती है तब तक आत्महित नही होता। ये तीन तत्त्व है—सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरु। इस पाठमें सद्देव-स्वरूपके विषयमे कुछ कहता हूँ।

जिन्हे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है, जो कर्म-समुदायको महोग्रतपोपध्यानसे विशोधन करके जला डालते हैं; जिन्होने चद्र और शखसे भी उज्ज्वल शुक्ल-ध्यान प्राप्त किया है; चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होते हुए भी जो ससारको एकात अनत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं, जो केवल दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्मसमृद्धिसे त्रिविध तापका नाश करते हैं; संसारमे मुख्य माने जानेवाले ज्ञानावरणीय,

मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोको भस्मीभूत करके जो स्व-स्वरूपमे विहार करते है; जो सर्व कर्मोके मूलको जला डालते हैं, जो केवल मोहनीजनित कर्मका त्याग करके निद्रा जैसी तीव्र वस्तु-को एकातत दूर करके दुर्बल हुए कर्मोके रहने तक उत्तम शीलका सेवन करते हैं, जो विरागतासे कर्मग्रीष्मसे अकुलाते हुए पामर प्राणियोको परम शाति मिलनेके लिए शुद्ध बोधबीजका मेघधारा-वाणीसे उपदेश करते हैं, किसी भी समय किंचित् मात्र भी ससारी वैभव विलासका स्वप्नाश भी जिनका नही रहा, जो कर्मदलका क्षय करनेसे पहले छद्मस्थता मानकर श्रीमुखवाणीसे उपदेश नही करते, जो पाँच प्रकारके अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित है, जो सच्चिदानद स्वरूपमे विराजमान हैं; और जिनमे महोद्योतकर बारह गुण प्रगट होते हैं, जिनका जन्म, मरण और अनत ससार चला गया है, उन्हे निर्ग्रंथ आगममें सद्‌देव कहा है। वे दोषरहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होनेसे पूजनीय परमेश्वर कहलाते है। जहाँ अठारह दोषोमेंसे एक भी दोष होता है वहाँ सद्‌देवका स्वरूप नही है। इस परम तत्त्वको उत्तम सूत्रोसे विशेष जानना आवश्यक है।

●

शिक्षापाठ ९

सद्धर्मतत्त्व

अनादिकालसे कर्मजालके बन्धनसे यह आत्मा ससारमे भटका करती है। समयमात्र भी उसे सच्चा सुख नही है। यह अधोगतिका

सेवन किया करती है, और अधोगतिमे गिरती हुई आत्माको धारण करनेवाली जो वस्तु है उसका नाम 'धर्म' है। सर्वज्ञ भगवान्ने इस धर्मतत्त्वके भिन्न-भिन्न भेद कहे हैं। उनमेसे मुख्य दो हैं—१. व्यवहार धर्म, २. निश्चय धर्म।

व्यवहार धर्ममे दया मुख्य है। शेष चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके वास्ते हैं। दयाके आठ भेद हैं—१ द्रव्यदया, २. भावदया, ३. स्वदया, ४ परदया, ५. स्वरूपदया, ६. अनुबन्धदया, ७. व्यवहारदया, ८. निश्चयदया।

१. द्रव्यदया—किसी भी कामको यतनापूर्वक जीवरक्षा करके करना 'द्रव्यदया' है।

२. भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमे जाते देखकर अनुकपा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

३. स्वदया—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नही पाती है, जिनाज्ञाको पाल नही सकती है, इस प्रकार चिन्तन करके धर्ममे प्रवेश करना,'स्वदया' है।

४. परदया—छः काय जीवकी रक्षा करना 'परदया' है।

५. स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूपका विचार करना 'स्वरूपदया' है।

६. अनुबन्धदया—गुरु या शिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनसे उपदेश देना, यह देखनेमे तो अयोग्य लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है; इसका नाम 'अनुबन्धदया' है।

७ व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

८. निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमे एकता भाव और अभेद उपयोगका होना निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्ने व्यवहार धर्म कहा है। इसमे सर्व जीवोका सुख, सतोप और अभयदान, ये सव विचार-पूर्वक देखनेसे आ जाते हैं।

निश्चयधर्म—अपने स्वरूपका भ्रम दूर करना, आत्माको आत्म-भावसे पहचानना। 'यह ससार मेरा नही है, मैं इससे भिन्न, परम असग सिद्धसदृश शुद्ध आत्मा हूँ', ऐसी आत्मस्वभाववर्तना निश्चय-धर्म है।

जहाँ किसी प्राणीका दु ख, अहित या असतोप रहता है वहाँ दया नही है, और जहाँ दया नही है वहाँ धर्म नही है। अर्हत् भगवान्के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सर्व प्राणी अभय होते हैं।

शिक्षापाठ १०

सद्गुरुतत्त्व—भाग १

पिता—पुत्र! तू जिस शालामे अभ्यास करने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है?

पुत्र—पिताजी! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चाल-चलन आदि कैसे हैं?

पुत्र—उनकी वाणी बहुत मधुर है, वे किसीको अविवेकसे नही बुलाते और बहुत गंभीर हैं। जब बोलते हैं तब मानो मुखसे फूल झड़ते हैं। वे किसीका अपमान नही करते, और हमे समझाकर शिक्षा देते हैं।

पिता—तू वहाँ किस लिए जाता है? यह मुझे कह तो सही।

पुत्र—आप ऐसा क्यो कहते हैं, पिताजी? ससारमे विचक्षण

होनेके लिए युक्तियाँ समझूँ, व्यवहारनीति सीखूँ, इसलिए आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरा यह शिक्षक दुराचारी अथवा ऐसा होता तो।

पुत्र—तव तो वहुत वुरा होता। हमे अविवेक और कुवचन वोलना आ जाता; व्यवहारनीति तो फिर सिखाता भी कौन?

पिता—देख पुत्र, इसपरसे मैं अव तुझे एक उत्तम शिक्षा देता हूँ। जैसे ससारमे पड़नेके लिए व्यवहारनीति सीखनेका प्रयोजन है, वैसे ही परभवके लिए धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमे प्रवेश करनेका प्रयोजन है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम मिल सकती है, वैसे ही परभवमे श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक तथा धर्मनीतिके शिक्षकमें वहुत भेद है। विल्लौरके टुकडे जैसा व्यवहार-शिक्षक है और अमूल्य कोस्तुभ जैसा आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र! आपका कहना वाजिव है। धर्मके शिक्षककी संपूर्ण आवश्यकता है। आपने वारवार ससारके दु खोके सवंधमे मुझे कहा है! इससे पार पानेके लिए धर्म ही सहायभूत है। तव धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त किया जाये कि वह श्रेयस्कर सिद्ध हो, यह मुझे कृपा करके कहे।

•

शिक्षापाठ ११

सद्गुरुतत्त्व—भाग २

पिता—पुत्र! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं—१ काष्ठ-स्वरूप, २. कागज-स्वरूप, और ३ पत्थर-स्वरूप। १ काष्ठ-स्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं; क्योकि ससाररूपी समुद्रको काष्ठ-स्वरूप गुरु ही तरते है;

और तार सकते हैं। २. कागज-स्वरूप गुरु मध्यम हैं। ये संसारसमुद्र-को स्वय तर नही सकते, परंतु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको तार नही सकते। ३ पत्थर-स्वरूप गुरु स्वय डूबें और परको भी डुबावें। काष्ठ-स्वरूप गुरु मात्र जिनेश्वर भगवान्के शासनमे हैं। बाकी दो प्रकारके गुरु कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं, और उत्तमसे उत्तम वस्तु मिल सकती है। गुरु यदि उत्तम हो तो वह भवसमुद्रमे नाविकरूप होकर सद्धर्मनावमे बैठाकर पार पहुँचा दे। तत्त्वज्ञानके भेद, स्व-स्वरूपभेद, लोकालोकविचार, ससारस्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना मिल नही सकते। अब तुझे प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके लक्षण कौन-कौनसे है? उन्हे मै कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवान्की कही हुई आज्ञाको जाने, उसे यथातथ्य पाले, और दूसरेको उपदेश करे, कंचनकामिनीका सर्वभावसे त्यागी हो, विशुद्ध आहार-जल लेता हो, बाईस प्रकारके परिषह सहन करता हो, क्षांत, दांत, निरारंभी और जितेन्द्रिय हो, सैद्धान्तिक ज्ञानमे निमग्न रहता हो, मात्र धर्मके लिए शरीरका निर्वाह करता हो, निर्ग्रन्थ पथ पालते हुए कायर न हो, सलाई मात्र भी बिना दिये न लेता हो, सर्व-प्रकारके रात्रिभोजनका त्यागी हो, समभावी हो और निरागतासे सत्योपदेशक हो। सक्षेपमे उसे काष्ठ-स्वरूप सद्गुरु जानना। पुत्र! गुरुके आचार एव ज्ञानके सबंधमें आगममे बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया है। ज्यो-ज्यो तू आगे विचार करना सीखता जायेगा, त्यों त्यो फिर मैं तुझे उन विशेष तत्त्वोका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी! आपने मुझे सक्षेपमे भी बहुत उपयोगी और कल्याणमय बताया है। मैं निरन्तर इसका मनन करता रहूँगा।

शिक्षापाठ १२

उत्तम गृहस्थ

संसारमें रहते हुए भी उत्तम श्रावक गृहाश्रमसे आत्मसाधन करते हैं उनका गृहाश्रम भी सराहा जाता है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चौविहार-प्रत्याख्यान इत्यादि यमनियमोका सेवन करते है।

परपत्नीकी ओर माँ-बहनकी दृष्टि रखते है।

यथाशक्ति सत्पात्रमे दान देते हैं।

शात, मधुर और कोमल भाषा बोलते है।

सत्शास्त्रका मनन करते हैं।

यथासंभव उपजीविकामें भी माया, कपट इत्यादि नही करते।

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सन्मान करते है।

माँ-बापको धर्मका बोध देते है।

यतनासे घरकी स्वच्छता, राँधना, सानना, शयन इत्यादिको कराते है।

स्वयं विचक्षणतासे आचरण करके स्त्री-पुत्रको विनयी और धर्मी बनाते है।

सारे कुटुंबमे ऐक्यकी वृद्धि करते है।

आये हुए अतिथिका यथायोग्य सन्मान करते हैं।

याचकको क्षुधातुर नही रखते।

सत्पुरुषोका समागम और उनका बोध धारण करते है।

निरंतर मर्यादासहित और संतोपयुक्त रहते हैं।

यथाशक्ति घरमें शास्त्रसचय रखते है।

अल्प आरंभसे व्यवहार चलाते हैं।

ऐसा गृहस्थाश्रम उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

शिक्षापाठ १३

जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई ईसाकी भक्ति करता है। ये भक्ति करके क्या आशा रखते होंगे?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु! ये भाविक मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोकी भक्ति करते हैं।

जिज्ञासु—तब कहिये, क्या आपका ऐसा मत है कि ये इससे उत्तम गति प्राप्त करेंगे?

सत्य—ये अपनी भक्तिसे मोक्ष प्राप्त करेंगे, ऐसा मैं नही कह सकता। जिनको ये परमेश्वर कहते हैं वे कुछ मोक्षको प्राप्त नही हुए हैं; तो फिर वे उपासकको मोक्ष कहाँसे देंगे? शकर इत्यादि कर्मक्षय नहीं कर सके और दूषणसहित हैं, इसलिए वे पूजनीय नही हैं।

जिज्ञासु—वे दूषण कौन-कौनसे है? यह कहिये।

सत्य—[1]अज्ञान, काम, हास्य, रति, अरति इत्यादि मिलकर अठारह दूषणोमेसे एक दूषण हो तो भी वे अपूज्य हैं। एक समर्थ

१ द्वि० आ० पाठा०—'अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानांतराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय, काम, हास्य, रति और अरति, ये अठारह।'

पडितने भी कहा है कि, 'मैं परमेश्वर हूँ' यो मिथ्या रीतिसे माननेवाले पुरुष स्वय अपनेको ठगते हैं, क्योकि पासमें स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते हैं, शस्त्र धारण किये होनेसे वे द्वेषी ठहरते है; जपमाला धारण करनेसे यह सूचित होता है कि उनका चित्त व्यग्र है। 'मेरी शरणमे आ, मै सब पापोको हर लूँगा,' यो कहनेवाले अभिमानी और नास्तिक ठहरते है। ऐसा है तो फिर वे दूसरेको कैसे तार सकते हैं ? और कितने अवतार लेनेके कारण परमेश्वर कहलाते हैं, तो [1]'ऐसी स्थितिमे यह सिद्ध होता है कि किसी कर्मका प्रयोजन शेष है।

जिज्ञासु—भाई ! तब फिर पूज्य कौन और भक्ति किसकी करनी कि जिससे आत्मा स्वशक्तिका प्रकाश करे ?

सत्य—शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप[2] अनन्त सिद्धकी भक्तिसे, तथा सर्वदूषणरहित, कर्ममलहीन, मुक्त वितराग, सकलभयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकाशित होती है।

जिज्ञासु—इनकी भक्ति करनेसे ये हमे मोक्ष देते हैं, ऐसा मानना ठीक है ?

सत्य—भाई जिज्ञासु ! ये अनन्तज्ञानी भगवान् तो निराग और निर्विकार हैं। इन्हे स्तुति-निंदाका हमे कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नही है। हमारी आत्मा जो कर्मदलसे घिरी हुई है, तथा अज्ञानी एव मोहाध हुई है, उसे दूर करनेके लिए अनुपम पुरुपार्थकी आवश्-

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'ऐसी स्थितिमें यह सिद्ध होता है कि उनके लिए किसी कर्मका भोगना बाकी है।'

२ द्वि० आ० पाठा०—'सिद्ध भगवानकी।'

यकता है। सर्व कर्मदलका क्षय करके[1] 'अनत वीर्य, अनत ज्ञान और अनत दर्शनसे स्वस्वरूपमय हुए' ऐसे जिनेश्वरोका स्वरूप आत्माकी निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे[2] यह पुरुषार्थता देता है, विकारसे विरक्त करता है, शाति और निर्जरा देता है। जैसे हाथमे तलवार लेनेसे शौर्य और भगसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही इस गुण-चिंतनसे आत्मा स्वस्वरूपानदकी श्रेणि पर चढता जाता है। हाथमे दर्पण लेते ही जैसे मुखाकृतिका भान होता है वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर-स्वरूपके चिंतनरूप दर्पणसे आत्मस्वरूपका भान होता है।

●

शिक्षापाठ १४

जिनेश्वरकी भक्ति—भाग २

जिज्ञासु—आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी कुछ जरूरत है ?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनत सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्ध स्वरूपका विचार होना तो कार्य है, परन्तु वे जिनसे उस स्वरूपको प्राप्त हुए वे कारण कौनसे हैं ? इसका विचार करते हुए उग्र तप, महान् वैराग्य, अनंत दया, महान् ध्यान, इन सबका स्मरण होगा। अपने अर्हत् तीर्थंकर-पदमे जिस नामसे वे विहार करते थे उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अत करणमे उदय होगा, जो उदय परिणाममे महा लाभदायक है। जैसे महा-

---

१ 'अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत चरित्र, अनंत वीर्य, और स्वस्वरूपमय हुए।'

२. उस भगवान्का स्मरण, चिंतन, ध्यान और भक्ति ये पुरुषार्थता देते हैं।'

वीरका पवित्र नामस्मरण करनेसे वे कौन थे ? कब हुए ? उन्होने किस प्रकारसे सिद्धि पायी ? इन चरित्रोकी स्मृति होगी; और इससे हमारे वैराग्य, विवेक इत्यादिका उदय होगा ।

जिज्ञासु—परंतु 'लोगस्स' मे तो चौवीस जिनेश्वरोके नाम सूचित किये हैं, इसका क्या हेतु है ? यह मुझे समझाइये ।

सत्य—इस कालमें इस क्षेत्रमें जो चौवीस जिनेश्वर हुए, उनके नाम और चरित्रका स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ हो, यह इसका हेतु है। वैरागीका चरित्र वैराग्यका वोध देता है। अनत चौबीसीके अनंत नाम सिद्धस्वरूपमे समग्रत. आ जाते हैं। वर्तमान-कालके चौबीस तीर्थंकरोके नाम इस कालमे लेनेसे कालकी स्थितिका अति सूक्ष्म ज्ञान भी याद आ जाता है। जैसे इनके नाम इस कालमे लिये जाते है वैसे ही चौवीसी चौबीसीके नाम, काल और चौवीसी बदलने पर लिये जाते रहते हैं। इसलिए अमुक नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नही है, परतु उनके गुण और पुरु-षार्थकी स्मृतिके लिए वर्तमान चौवीसीकी स्मृति करना, ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जाता है। इससे हमारी आत्मा प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बाँसुरीके नादसे जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोहनिद्रासे जागृत होती है।

जिज्ञासु—आपने मुझे जिनेश्वरकी भक्तिसबधी बहुत उत्तम कारण बताया। आधुनिक शिक्षासे जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फल-दायक नही है ऐसी मेरी आस्था हो गयी थी, उसका नाश हो गया है। जिनेश्वर भगवान्‌की भक्ति अवश्य करनी चाहिये, यह मै मान्य रखता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्‌की भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके कारण महान् है। "उनके उपकारसे उनकी भक्ति अवश्य करनी

चाहिये। उनके पुरुषार्थका स्मरण होता है, जिससे कल्याण होता है। इत्यादि इत्यादि मैंने यथामति मात्र सामान्य कारण कहे हैं। वे अन्य भाविकोंके लिए भी सुखदायक होवे।[1]

•

शिक्षापाठ १५

भक्तिनो उपदेश

तोटक

शुभ शीतळतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फळपंक्ति कही।
जिनभक्ति ग्रहो तरु कल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ १ ॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मनताप उताप तमाम मटे।
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ २ ॥

भक्तिका उपदेश

भावार्थ—जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमे मनोवांछित फलोकी पक्ति लगी है। अहो भव्यो! तुम कल्पतरुरूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥ १ ॥

इससे अपने आत्मस्वरूपका आनंद प्रगट होता है, मनका ताप एवं अन्य सब उत्ताप मिट जाते हैं। सेतमेतमे कर्मोकी अति निर्जरा होती है। तुम भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥ २ ॥

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। और उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभवृत्तियोका उदय होता है। ज्यों-ज्यो श्रीजिनके स्वरूपमें वृत्तिका लय होता है, त्यों-त्यो परम शाति प्रगट होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारण यहां सक्षेपमें कहे हैं, वे आत्मार्थियोके लिए विशेषरूपसे मनन करने योग्य है।'

समभावी सदा परिणाम थशे, जड मंद अधोगति जन्म जशे ।
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥३॥
शुभ भाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो ।
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥४॥
करशो क्षयकेवळ रागकथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा ।
नृपचंद्र प्रपंच अनंत दहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥५॥

इससे परिणाम सदा समभावी होगे; जड, मद और अधोगतिके जन्म नष्ट होगे, इस परिपूर्ण शुभ मगलकी इच्छा करो और भगवद्-भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥ ३ ॥

शुभ भावसे मनको शुद्ध करो, नवकार महामत्रका स्मरण करो, इसके समान दूसरा कोई सुमत्र नही है । तुम भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥ ४ ॥

रागकथाका सर्वथा क्षय करो, यथार्थ शुभ तत्त्वस्वरूपको धारण करो । राजचद्र कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे ससारके अनत प्रपचका दहन करो, और भगवद्भक्ति करके भवात प्राप्त करो ॥ ५ ॥

शिक्षापाठ १६

सच्ची महत्ता

कितने मानते है कि लक्ष्मीसे महत्ता मिलती है, कितने मानते हैं कि महान् कुटुबसे महत्ता मिलती है, कितने मानते हैं कि पुत्रसे महत्ता मिलती है, कितने मानते है कि अधिकारसे महत्ता मिलती है। परंतु विवेक-दृष्टिसे उनका यह मानना मिथ्या सिद्ध होता है। वे जिसमे महत्ता मानते है उसमे महत्ता नही परन्तु लघुता है।

लक्ष्मीसे ससारमे खानपान, मान, अनुचरोपर आज्ञा और वैभव, ये सब मिलते हैं और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे, परन्तु इतनेसे उसे महत्ता माननेकी जरूरत नही है। लक्ष्मी अनेक पापोसे पैदा होती है। यह आनेके बाद अभिमान, वेभानता और मूढता लाती है। कुटुवसमुदायकी महत्ता पानेके लिए उसका पालन-पोषण करना पडता है। उससे पाप और दु ख सहन करने पडते हैं। हमे उपाधिसे पाप करके उसका उदर भरना पड़ता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नही रहता। इसके लिए भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहने पड़ते हैं, फिर भी इससे अपना क्या मगल होता है? अधिकारसे परतत्रता या सत्तामद आता है और इससे जुल्म, अनीति, रिश्वत तथा अन्याय करने पड़ते हैं अथवा होते हैं। तब कहो, इसमेंसे महत्ता किसकी होती है? मात्र पापजन्य कर्मकी। पापकर्मसे आत्माकी नीच गति होती है; जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नही परतु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामे है। लक्ष्मी आदि तो कर्ममहत्ता है। ऐसा होने पर भी सयाने पुरुष लक्ष्मीके कारण दान देते हैं, उत्तम विद्याशालाएँ स्थापित करके परदु खभजन होते हैं[1]। एक स्त्रीसे विवाह करके मात्र उसमे वृत्ति रोककर परस्त्रीकी ओर पुत्रीभावसे देखते है। कुटुब द्वारा अमुक समुदायका हितकाम करते हैं। पुत्र होनेसे उसे ससारभार दे कर स्वयं धर्ममार्गमे प्रवेश करते हैं। अधिकार द्वारा चतुराईसे आचरण करके राजा-प्रजा दोनोका हित करके धर्मनीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे अनेक सच्ची महत्ताएँ प्राप्त होती है, फिर भी ये महत्ताएँ निश्चित नही हैं। मरण-भय सिर पर सवार है। धारणा धरी रह जाती है। योजित योजना या विवेक शायद हृदयमें-

---

१. द्वि० आ० पा०—'एक विवाहित स्त्रीमें ही।'

से जाता रहे, ऐसी संसार मोहिनी है, इसलिए हम यह नि सशय समझें कि सत्य वचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्म महत्ता किसी भी स्थलमे नही है। शुद्ध पच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने लक्ष्मी, कुटुंब, पुत्र या अधिकारसे प्राप्त नही की ऐसा मेरा मानना है।

●

शिक्षापाठ १७

बाहुबल

बाहुबल अर्थात् अपनी भुजाका बल यह अर्थ यहाँ नही करना है, क्योंकि बाहुबल नामके महा पुरुषका यह एक छोटा परन्तु अद्भुत चरित्र है।

ऋषभदेवजी भगवान् सर्वसंगका परित्याग करके भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोको राज्य सौंप कर विहार करते थे। तब भरतेश्वर चक्रवर्ती हुआ। आयुधशालामे चक्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उसने प्रत्येक राज्य पर अपना आम्नाय स्थापित किया और छः खंडकी प्रभुता प्राप्त की। मात्र बाहुबलने ही यह प्रभुता अंगीकार नही की। इससे परिणाममे भरतेश्वर और बाहुबलका युद्ध शुरू हो गया। बहुत समय तक भरतेश्वर या बाहुबल इन दोनोमें-से एक भी पीछे नही हटा, तब क्रोधावेशमें आकर भरतेश्वरने बाहु-बल पर चक्र छोड़ा? एक वीर्यसे उत्पन्न हुए भाई पर वह चक्र प्रभाव नही कर सकता, इस नियमसे वह चक्र फिरकर पीछे भरते-श्वरके हाथमे आया। भरतके चक्र छोड़नेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उसने महाबलवत्तर मुष्टि उठायी। तत्काल वहाँ उसकी भावनाका स्वरूप बदला। उसने विचार कर लिया, "मैं यह बहुत निंदनीय कर्म करता हूँ। इसका परिणाम कैसा दु खदायक है! भले-

भरतेश्वर राज्य भोगे । व्यर्थ ही परस्परका नाश किसलिए करना ? यह मुष्टि मारनी योग्य नही है, तथा उठायी है तो इसे अब पीछे हटाना भी योग्य नही है ।" यो कहकर उसने पचमुष्टि केशलुचन किया, और वहाँसे मुनित्वभावसे चल निकला । उसने, भगवान् आदीश्वर जहाँ अठानवें दीक्षित पुत्रो और आर्य-आर्याके साथ विहार करते थे, वहाँ जानेकी इच्छा की, परतु मनमे मान आया । "वहाँ मै जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवे भाइयोको वदन करना पड़ेगा । इसलिए वहाँ तो जाना योग्य नही ।" फिर वनमे वह एकाग्र ध्यान-मे रहा । धीरे-धीरे बारह मास हो गये । महातपसे काया हड्डियो-का ढाचा हो गयी । वह सूखे पेड जैसा दीखने लगा, परतु जब तक मानका अकुर उसके अत करणसे हटा न था तब तक उसने सिद्धि नही पायी । ब्राह्मी और सुदरीने आकर उसे उपदेश दिया, "आर्य वीर ! अब मदोन्मत्त हाथीसे उतरें, इससे तो सहनेकी हद हो गयी ।" उनके इन वचनोंसे बाहुबल विचारमे पडा । विचार करते-करते उसे यह भान हुआ, "सत्य है । मै मानरूपी मदोन्मत्त हाथीसे अभी कहाँ उतरा हूँ ? अब इससे उतरना ही मगलकारक है ।" ऐसा कह-कर उसने वदन करनेके लिए कदम उठाया कि वह अनुपम दिव्य कैवल्यकमलाको प्राप्त हुआ ।

पाठक ! देखो, मान कैसी दुरित वस्तु है !!

●

शिक्षापाठ १८

चार गति

[1]सातावेदनीयका असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ

---

१. द्वि० आ० पाठा०—'ससारवनमें जीव सातावेदनीय-असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिए इन चार गतियोमे भ्रमण करता रहता है ।'

कर्मका फल भोगनेके लिए इस संसारवनमें जीव चार गतियोंमें भ्रमण करता रहता है। यह चार गति अवश्य जाननी चाहिये।

१. नरकगति—महारंभ, मदिरापान, मासभक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव नरकमे पडते है। वहाँ लेश मात्र भी साता, विश्राम या सुख नही है, महान् अधकार व्याप्त है, अगछेदन सहन करना पडता है, अग्निमे जलना पडता है, और छरपलाकी धार जैसा जल पीना पड़ता है। जहाँ अनंत दु खसे प्राणीभूतोकी तगी, असाता और विलविलाहटको सहन करना पड़ता है; जिन दु.खोको केवलज्ञानी भी नही कह सकते। अहोहो !! इस आत्माने वे दु ख अनंत वार भोगे है।

२. तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपंच इत्यादिके कारण जीव सिंह, वाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, वैल इत्यादि तिर्यंचके शरीर धारण करता है। इस तिर्यंचगतिमें भूख, प्यास, ताप, वध, वधन, ताड़न, भारवहन इत्यादिके दु.ख सहन करता है।

३ मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके विषयमे विवेकरहित है; लज्जाहीन, माता-पुत्रीके साथ कामगमन करनेमे जिन्हे पापापापका भान नही है, निरतर मांस-भक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन इत्यादि महापातक किया करते है; ये तो मानो अनार्य देशके अनार्य मनुष्य हैं। आर्य देशमे भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, अज्ञान और रोगसे पीड़ित मनुष्य है। मान-अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दु.ख वे भोग रहे हैं।

४ देवगति—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा इत्यादिसे देवता भी आयु व्यतीत कर रहे हैं। यह देवगति है।

इस प्रकार सामान्यरूपसे चार गति कही। इन चारो गतियोंमे मनुष्यगति सवसे श्रेष्ठ और दुर्लभ है। आत्माका परम हित मोक्ष

इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमे भी कितने ही दु ख और आत्मसाधन करनेमे अतराय है।

एक तरुण सुकुमारको रोम-रोममे लाल अगारे सूएँ भोकनेसे जो असह्य वेदना उत्पन्न होती है, उसकी अपेक्षा आठ गुनी वेदना गर्भस्थानमे रहते हुए जीव पाता है। मल, मूत्र, लहू, पीप आदिमें लगभग नौ महीने अहोरात्र मूर्च्छागत स्थितिमे वेंदना भोग भोग-कर जन्म पाता है। जन्मके समय गर्भस्थानकी वेदनासे अनत गुनी वेदना उत्पन्न होती है। उसके बाद वाल्यावस्था प्राप्त होती है। मल, मूत्र, धूल और नग्नावस्थामे नासमझीसे रो-भटककर यह वाल्यावस्था पूर्ण होती है, और युवावस्था आती है। धन-उपार्जन करनेके लिए नाना प्रकारके पापोमे पड़ता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है वहाँ अर्थात् विषय-विकारमे वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्यदृष्टि, सयोग, वियोग आदिके चक्करमे युवावस्था चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर काँपता है, मुखसे लार झरती है, त्वचा पर झुर्री पड़ जाती है, सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ सर्वथा मद हो जाती हैं, केश सफेद होकर झड़ने लगते हैं। चलनेकी शक्ति नही रहती, हाथमे लकड़ी लेकर लडखड़ाते हुए चलना पड़ता है। या तो जीवनपर्यंत खाट पर पड़ा रहना पडता है। श्वास, खासी इत्यादि रोग आकर घेर लेते है, और थोड़े कालमे काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेसे जीव चल निकलता है। काया हुई न हुई हो जाती है। मरणके समय कितनी अधिक वेदना होती है? चतुर्गतिमे श्रेष्ठ जो मनुष्य-देह है उसमे भी कितने अधिक दु ख रहे हुए हैं। फिर भी उपर्युक्तके अनुसार अनुक्रम-से काल आता है यह बात भी नही है। चाहे जब वह आकर ले जाता है। इसलिए विचक्षण पुरुष प्रमाद किये विना आत्मकल्याणकी आराधना करते है।

●

शिक्षापाठ १९

ससारकी चार उपमाएँ—भाग १

१. महातत्त्वज्ञानी संसारको एक समुद्रकी उपमा भी देते है। ससाररूपी समुद्र अनत और अपार है। अहो लोगो ! इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो ! इस प्रकार उसके स्थान-स्थान पर वचन हैं। ससारको समुद्रकी उपमा छाजती भी है। समुद्रमें जैसें मौजोकी उछाले उछला करती हैं, वैसे संसारमे विषयरूपी अनेक मौजे उछलती हैं। समुद्रका जल जैसे ऊपरसे सपाट दिखायी देता है वैसे ससार भी सरल दिखायी देता है। समुद्र जैसे कही वहुत गहरा है, और कही भँवरोमे डाल देता है, वैसे ससार कामविषयप्रपंचादिमें वहुत गहरा है, वह मोहरूपी भँवरोमे घेर लेता है। थोड़ा जल होते हुए भी समुद्रमे खड़े रहनेसे जैसे कीचड़मे धँस जाते हैं, वैसे ससारके लेशभर प्रसगमे वह तृष्णारूपी कीचड़मे फँसा देता है। समुद्र जैसे नाना प्रकारकी चट्टानो और तूफानोंसे नाव या जहाजको हानि पहुँचाता है, वैसे स्त्रियोरूपी चट्टानों और कामरूपी तूफानोसे ससार आत्माको हानि पहुँचाता है। समुद्र जैसे अगाध जलसे शीतल दिखायी देने पर भी उसमे वडवानल नामकी अग्निका वास है, वैसे ससारमे मायारूपी अग्नि जला ही करती है। समुद्र जैसे चौमासेमे अधिक जल पाकर गहरा हो जाता है, वैसे पापरूपी जल पाकर संसार गहरा हो जाता है, अर्थात् जड़ जमाता जाता है।

२. ससारको दूसरी उपमा अग्निकी छाजती है। अग्निसे जैसे महातापकी उत्पत्ति होती है; वैसे ससारसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। अग्निसे जला हुआ जीव जैसे महान् बिलबिलाहट करता है, वैसे संसारसे जला हुआ जीव अनंत दु.खरूपी नरकसे

असह्य विलबिलाहट करता है। अग्नि जैसे सब वस्तुओका भक्षण कर जाती है, वैसे अपने मुखमे पडे हुओको ससार भक्षण कर जाता है। अग्निमे ज्यो-ज्यो घी और इंधन होमे जाते हैं त्यो-त्यो वह वृद्धि पाती है, [1]वैसे ससारमे ज्यो-ज्यो तीव्र मोहनीरूपी घी और विषयरूपी इंधन होमे जाते है त्यो-त्यो वह वृद्धि पाता है।

३ ससारको तीसरी उपमा अधकारकी छाजती है। अधकारमे जैसे रस्सी सर्पका ज्ञान कराती है, वैसे ससार सत्यको असत्यरूप बताता है। अधकारमे जैसे प्राणी इधर-उधर भटक कर विपत्ति भोगते हैं, वैसे ससारमे बेभान होकर अनत आत्माएँ चतुर्गतिमे इधर-उधर भटकती है। अधकारमें जैसे काँच और हीरेका ज्ञान नही होता, वैसे ससाररूपी अधकारमे विवेक-अविवेकका ज्ञान नही होता। जैसे अधकारमें प्राणी आँखे होनेपर भी अधे बन जाते हैं, वैसे शक्तिके होनेपर भी ससारमे वे मोहांध बन जाते है। अधकारमें जैसे उल्लू इत्यादिका उपद्रव बढ जाता है, वैसे ससारमें लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ जाता है। अनेक प्रकारसे देखते हुए ससार अधकाररूप ही प्रतीत होता है।

●

शिक्षापाठ २०

संसारकी चार उपमाएँ—भाग २

४ ससारको चौथी उपमा शकटचक्र अर्थात् छकड़ेके पहियेकी छाजती है। चलता हुआ शकटचक्र जैसे घूमता रहता है वैसे

---

१. द्वि० आ० पाठा०—उसी प्रकार ससाररूपी अग्निमें तीव्र मोहनीरूपी घी और विषयरूपी इंधन होमा जानेसे वृद्धि पाती है।

ससारमे प्रवेश करनेसे वह फिरता रहता है। शकटचक्र जैसे धुराके बिना नही चल सकता, वैसे संसार मिथ्यात्वरूपी धुराके बिना नहीं चल सकता। शकटचक्र जैसे आरोसे टिका हुआ है, वैसे संसार शंका, प्रमाद आदि आरोसे टिका हुआ है। इस तरह अनेक प्रकारसे शकटचक्रकी उपमा भी संसारको लागू हो सकती है।

[1]संसारको जितनी हीन उपमाएँ दें उतनी थोडी है। हमने ये चार उपमाएँ जानीं। अब इनमेसे तत्त्व लेना योग्य है।

१. जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकसे तैरकर पार किया जाता है, वैसे सद्धर्मरूपी नाव और सद्गुरुरूपी नाविकसे संसारसागर पार किया जा सकता है। सागरमे जैसे चतुर पुरुषोने निर्विघ्न मार्ग खोज निकाला होता है, वैसे जिनेश्वर भगवान्‌ने तत्त्व-ज्ञानरूप उत्तम मार्ग बताया है, जो निर्विघ्न है।

२ जैसे अग्नि सबका भक्षण कर जाती है, परन्तु पानीसे बुझ जाती है, वैसे वैराग्यजलसे ससाराग्नि बुझाई जा सकती है।

३. जैसे अंधकारमे दीया ले जानेसे प्रकाश होनेपर देखा जा सकता है, वैसे तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीया संसाररूपी अंध-कारमे प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

४. जैसे शकटचक्र बैलके बिना नही चल सकता, वैसे ससार-चक्र रागद्वेषके बिना नही चल सकता।

इस प्रकार इस ससाररोगका निवारण उपमा द्वारा अनुपानके साथ कहा है। आत्महितैषी निरतर इसका मनन करे और दूसरोको उपदेश दे।

---

१. द्वि० आ० पाठा०—इस प्रकार ससारको।

शिक्षापाठ २१

बारह भावना

वैराग्यकी और आत्महितैषी विषयोंकी दृढताके लिए तत्त्वज्ञानी बारह भावनाओके चिन्तन करनेको कहते हैं—

१ शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुब, परिवार आदि सब विनाशी हैं। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तन करना, यह पहली 'अनित्यभावना'।

२ संसारमे मरणके समय जीवको शरण देनेवाला कोई नही है; मात्र एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिन्तन करना, यह दूसरी 'अशरणभावना'।

३ इस आत्माने ससारसमुद्रमे पर्यटन करते-करते सर्व भव किये हैं। इस ससारकी बेड़ीसे मै कब छूटूँगा ? यह संसार मेरा नही है, मै मोक्षमय हूँ, ऐसा चिंतन करना, यह तीसरी 'ससार-भावना'।

४. यह मेरी आत्मा अकेली है, यह अकेली आयी है, अकेली जायेगी और अपने किये हुए कर्मोंको अकेली भोगेगी, ऐसा चिंतन करना, यह चौथी 'एकत्वभावना'।

५ इस ससारमे कोई किसीका नही है, ऐसा चिंतन करना, यह पाँचवी 'अन्यत्वभावना'।

६. यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग-जराके रहनेका धाम है, इस शरीरसे मैं भिन्न हूँ, ऐसा चिंतन करना, यह छठी 'अशुचिभावना'।

७ राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आस्रव हैं, ऐसा चिंतन करना, यह सातवी 'आस्रवभावना'।

८. जीव ज्ञान व ध्यानमे प्रवर्त्तमान होकर नये कर्म नही बाँधता, ऐसा चिंतन करना, यह आठवी 'संवरभावना'।

९. ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिंतन करना, यह नौवी 'निर्जराभावना'।

१० लोकस्वरूपकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके स्वरूपका विचार करना, यह दसवी 'लोकस्वरूपभावना'।

११. संसारमें परिभ्रमण करती हुई आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ तो चरित्र—सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिंतन करना, यह ग्यारहवीं 'बोधदुर्लभभावना'।

१२. धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु तथा धर्मोपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिंतन करना, यह बारहवी धर्मदुर्लभभावना'

इन बारह भावनाओका मननपूर्वक निरंतर विचार करनेसे सत्पुरुष उत्तम पदको प्राप्त हुए हैं, प्राप्त होते हैं ओर प्राप्त होगे।

शिक्षापाठ २२

कामदेव श्रावक

महावीर भगवान्‌के समयमें द्वादश व्रतको विमल भावसे धारण करनेवाला, विवेकी निर्ग्रंथवचनानुरक्त कामदेव नामका एक श्रावक उनका शिष्य था। एक समय इन्द्रने सुधर्मासभामे कामदेवकी धर्ममे अचलताकी प्रशसा की। उस समय वहाँ एक तुच्छ बुद्धि-

मान् देव वैठा हुआ था। [1]वह वोला—"यह त । समझमें आया, 'जब तक नारी न मिले तब तक ब्रह्मचारी तथा जब तक परिषह न पडे हो तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ।' यह अपनी बात मै उसे विचलित करके सत्य कर दिखाऊँ।" धर्मदृढ कामदेव उस समय कायोत्सर्गमे लीन था। देवताने हाथीका रूप धारण किया; और फिर कामदेवको खुब रौंदा, तो भी वह अचल रहा, इतनेमे मूसल जैसा अग बनाकर काले वर्णका सर्प होकर भयकर फुँकार किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे लेश मात्र चलित नही हुआ। फिर अट्टहास्य करते हुए राक्षसकी देह धारण करके अनेक प्रकारके परिषह किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे डिगा नही। सिह आदिके अनेक भयकर रूप किये, तो भी कामदेवने कायोत्सर्गमे लेश हीनता नही आने दी। इस प्रकार देवता रात्रिके चारो पहर उपद्रव करता रहा, परतु वह अपनी धारणामे सफल नही हुआ। फिर उसने उपयोगसे देखा तो कामदेवको मेरुके शिखरकी भाँति अडोल पाया। कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसे विनय भावसे प्रणाम करके अपने दोषोकी क्षमा माँगकर वह देवता स्वस्थान-को चला गया।

[2]कामदेव श्रावककी धर्मदृढ़ता हमे क्या बोध देती है, यह बिना कहे भी समझमे आया होगा। इसमेसे यह तत्त्वविचार लेनेका है कि निर्ग्रंथ-प्रवचनमे प्रवेश करके दृढ रहना। कायोत्सर्ग इत्यादि

---

१ 'उसने ऐसी सुदृढताके प्रति अविश्वास वताया और कहा कि जब तक परिषह न पडे हो तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ मालूम होते हैं।'

२. द्वि० आ० पाठा०—'कामदेव श्रावककी धर्मदृढता ऐसा वोध करती है कि सत्य धर्म और सत्य प्रतिज्ञामें परम दृढ रहना और कायोत्सर्गादिको यथासंभव एकाग्र चित्तसे और सुदृढतासे निर्दोष करना।'

जो ध्यान करना है उसे यथासंभव एकाग्र चित्तसे और दृढ़तासे निर्दोष करना। चलविचल भावसे कायोत्सर्ग बहुत दोषयुक्त होता है। [1]पाईके लिए धर्मसाख खो देनेवाले धर्ममे दृढ़ता कहाँसे रखे? और रखे तो कैसी रखे? यह विचारते हुए खेद होता है।

o

शिक्षापाठ २३

सत्य

सामान्य कथनमें भी कहा जाता है कि सत्य इस [2]सृष्टिका आधार है; अथवा सत्यके आधार पर यह [3]सृष्टि टिकी है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्य द्वारा चल रहे हैं; और ये चार न हो तो जगत्का रूप कैसा भयंकर हो? इसलिए सत्य सृष्टिका आधार है, यह कहना कुछ अतिशयोक्ति जैसा या न मानने योग्य भी नही है।

वसुराजाका एक शब्दका असत्य बोलना कितना दुःखदायक हुआ था, [4]उसे तत्त्वविचार करनेके लिए मैं यहाँ कहता हूँ।

वसुराजा, नारद और पर्वत ये तीनो एक गुरुके पास विद्या पढे थे। पर्वत अध्यापकका पुत्र था। अध्यापक चल बसा। इसलिए पर्वत अपनी माँके साथ वसुराजाके राजमे आकर रहा था। एक रात उसकी माँ पासमे बैठी थी, और पर्वत तथा नारद शास्त्राभ्यास कर

---

१ 'पाई जैसे द्रव्यलाभके लिए धर्मसाख खो देनेवालेकी धर्ममें दृढता कहाँसे रह सके? और रह सके तो कैसी रहे?

२. 'जगत्का आधार।'

३. 'जगत् टिका है।'

४. द्वि० आ० पाठा०—'वह प्रसग विचार करनेके लिए यहाँ कहेंगे।'

रहे थे। इस दौरानमे पर्वतने 'अजैर्यष्टव्यम्' ऐसा एक वाक्य बोला। तव नारदने कहा, "अजका अर्थ क्या है, पर्वत ?" पर्वतने कहा, "अज अर्थात् वकरा।" नारद बोला, "हम तीनो जव तेरे पिताके पास पढते थे तव तेरे पिताने 'अज' का अर्थ तीन वर्षके 'व्रीहि' वताया था, और तू उलटा अर्थ क्यो करता है ?" इस प्रकार परस्पर वचन-विवाद वढा। तव पर्वतने कहा, "वसुराजा हमे जो कहे वह ठीक है।" यह वात नारदने भी मान ली और जो जीते उसके लिए अमुक शर्त की। पर्वतकी माँ जो पासमे वैठी थी उसने यह सव सुना। 'अज' अर्थात् 'व्रीहि' ऐसा उसे भी याद था। शर्तमे अपना पुत्र हार जायेगा, इस भयसे पर्वतकी माँ रातको राजाके पास गयी और पूछा, "राजन्! 'अज' का क्या अर्थ है ?" वसुराजाने संवंध पूर्वक कहा, "अजका अर्थ व्रीहि है।" तव पर्वतकी माँने राजासे कहा, "मेरे पुत्रने अजका अर्थ वकरा कह दिया है, इसलिए आपको उसका पक्ष लेना पडेगा। वे आपसे पूछनेके लिए आयेंगे।' वसुराजा वोला, "मै असत्य कैसे कहूँगा ? मुझसे यह नही हो सकेगा।" पर्वतकी माताने कहा, "परतु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष नही लेंगे, तो मै आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमें पड गया— "सत्यके कारण मैं मणिमय सिंहासन पर अधरमे वैठता हूँ। लोक-समुदायका न्याय करता हूँ। लोग भी यह जानते हैं कि राजा सत्य गुणके कारण सिंहासनपर अंतरिक्षमे वैठता है। अव क्या करना ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ तो ब्राह्मणी मरती है, और यह मेरे गुरुकी स्त्री है।" अतमे लाचार होकर राजाने कहा, "आप भले जायें। मैं पर्वतका पक्ष लूँगा।" ऐसा निश्चय कराकर पर्वतकी माता घर आयी। प्रभातमे नारद, पर्वत और उसकी माता विवाद करते हुए राजाके पास आये। राजा अनजान होकर पूछने लगा—"पर्वत क्या है ?" पर्वतने कहा, "राजाधिराज! 'अज'का अर्थ क्या है ? यह वताइये।" राजाने नारदसे पूछा—"आप क्या कहते हैं ?"

नारदने कहा—"अज अर्थात् तीन वर्षके 'व्रीहि', आपको क्या याद नही आता ?" वसुराजाने कहा—"अज का अर्थ है बकरा, व्रीहि नही।" उसी समय देवताने उसे सिहासनसे उछालकर नीचे पटक दिया; वसु कालपरिणामको प्राप्त हुआ।

इसपरसे हम [1]सबको यह मुख्य बोध मिलता है कि हम सबको सत्य और राजाको सत्य एव न्याय दोनो ग्रहण करने योग्य है।

भगवान्ने जो पाँच महाव्रत प्रणीत किये है, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिए शेष चार व्रत बाडरूप है और उनमे भी पहली बाड़ सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोको सिद्धातसे श्रवण करना आवश्यक है।

●

शिक्षापाठ २४

सत्संग

सत्संग सर्व सुखका मूल है। [2]'सत्संग मिला' कि उसके प्रभावसे वाछित सिद्धि हो ही जाती है। चाहे जैसा पवित्र होनेके लिए सत्संग श्रेष्ठ साधन है। सत्संगकी एक घड़ी जो लाभ देती है वह कुसंगके एक करोड वर्ष भी नही दे सकते, वे अधोगतिमय महा पाप कराते है, तथा आत्माको मलिन करते हैं। सत्सगका सामान्य अर्थ यह कि उत्तमका सहवास। जहाँ अच्छी हवा नही आती वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे जहाँ सत्संग नही वहाँ आत्मरोग बढ़ता है। दुर्गंधसे तंग आकर जैसे नाक पर वस्त्र रख लेते हैं, वैसे ही

१. द्वि० आ० पाठ०—'सामान्य मनुष्योको सत्य तथा राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनो ग्रहण करने योग्य है।'

२. 'सत्संगका लाभ मिला।'

कुसगका सहवास वद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका सग है, और वह अनत कुसगरूप एव दु खदायक होनेसे त्याग करने योग्य है। चाहे जिस प्रकारका सहवास हो परतु जिससे आत्म-सिद्धि नही वह सत्सग नही है। आत्मापर जो सत्यका रग चढ़ाये वह सत्सग है। जो मोक्षका मार्ग वताये वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमे निरतर एकाग्र रहना भी सत्सग है; सत्पुरुषोका समागम भी सत्सग है। जैसे मलिन वस्त्रको सावुन तथा जल स्वच्छ करते है वैसे आत्माकी मलिनताको शास्त्रवोध और सत्पुरुषोका समागम दूर करके शुद्ध करते हैं। जिसके साथ सदा परिचय रखकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवित होते हो वह तुम्हे चाहे जैसा प्रिय हो, तो भी निश्चित्त मानो कि वह सत्संग नही प्रत्युत कुसग है। सत्सगसे प्राप्त हुआ एक वचन अमूल्य लाभ देता है। तत्त्व-ज्ञानियोने ऐसा मुख्य वोध दिया है कि सर्वसगका परित्याग करके, अतरमे रहे हुए सर्व विकारसे भी विरक्त रहकर एकातका सेवन करो। इसमे सत्सगकी स्तुति आ जाती है। सर्वथा एकांत तो ध्यान-मे रहना या योगाभ्यासमे रहना है, परतु समस्वभावीका समागम, जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वर्तनताका प्रवाह निकलता है वह, भावसे एक ही रूप होनेसे वहुत मनुष्योके होने पर भी और पर-स्परका सहवास होनेपर भी एकातरूप ही है और ऐसा एकात मात्र सत-समागममे रहता है। कदाचित् कोई ऐसा विचार करेगा कि विषयीमडल मिलता है वहाँ समभाव होनेसे उसे एकांत क्यो न कहा जाये? इसका समाधान तो तत्काल हो जाता है कि वे एक-स्वभावी नही होते। उनमे परस्पर स्वार्थवुद्धि और मायाका अनु-सधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोसे समागम होता है वह एकस्वभावी या निर्दोष नही होता। निर्दोष और समस्वभावी समागम तो परस्पर शात मुनीश्वरोका है, तथा धर्मध्यानप्रशस्त अल्पारभी पुरुषोका भी कुछ अशमे है। जहाँ स्वार्थ और माया-

कपट ही है वहाँ समस्वभावता नही है और वह सत्सग भी नही है। सत्संगसे जो सुख और आनन्द मिलते हैं वे अति स्तुतिपात्र हैं। जहाँ शास्त्रोंके सुन्दर प्रश्न हो, जहाँ उत्तम ज्ञान एव ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्र पर विचार किया जाता हो, जहाँ तत्त्वज्ञानको तरंगकी लहरे उठती हो, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धातविचारकी चर्चा होती हो और जहाँ मोक्षजनक कथनपर पुष्कल विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग तो महा दुर्लभ है। कोई यों कहे कि सत्संगमंडलमे क्या कोई मायावी नही होता ? तो इसका समाधान यह है—जहाँ माया और स्वार्थ हो वहाँ सत्सग ही नही होता। राजहंसकी सभामे काग देखावसे कदाचित् न भाँपा जाये तो रागसे अवश्य भाँपा जायेगा, मौन रहा तो मुखमुद्रासे ताडा जायेगा; परन्तु परदेमे नहीं रह पायेगा। उसी प्रकार मायावी स्वार्थसे सत्सगमे जाकर क्या करें ? वहाँ पेट भरनेकी वात तो होती नही। दो घड़ी वहाँ जाकर विश्राति लेते हो तो भले लें कि जिससे रंग लगे, और रग न लगे, तो दूसरी वार उनका आगमन नही होगा, जैसे पृथ्वी पर तैरा नही जाता, वैसे ही सत्सगसे डूबा नही जाता, ऐसी सत्सगमें चमत्कृति है। निरंतर ऐसे निर्दोष समागममे माया लेकर आये भी कौन ? कोई दुर्भागी ही, वह भी असंभव है। सत्संग आत्माकी परम हितैषी औषध है।

●

शिक्षापाठ २५

परिग्रहकी मर्यादा

जिस प्राणीके परिग्रहकी मर्यादा नही है वह सुखी नही है। उसे जो मिला वह कम है; क्योंकि उसे जितना मिलता जाये उतने-

से विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती है। परिग्रहकी प्रवलता-मे जो कुछ मिलता हो उसका सुख तो भोगा नही जाता, परन्तु जो होता है वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरन्तर चलविचल परिणाम और पापभावना रहते हैं। अकस्मात् योगसे ऐसी पापभावनामे यदि आयु पूर्ण हो जाये तो वहुधा अधोगतिका कारण हो जाये। सपूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर त्याग सकें, परन्तु गृहस्थ उसकी अमुक मर्यादा हो जानेसे उससे अधिक परिग्रहको उत्पत्ति नही है, और इससे विशेष भावना भी वहुधा नही होती, और फिर जो मिला है उसमे सन्तोष रखनेकी प्रथा पडती है, जिससे सुखमे समय वीतता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है कि ज्यो-ज्यों लाभ होता जाता है त्यो-त्यों लोभ वढ़ता जाता है। धर्मसवधी कितना ही ज्ञान और दृढता होने पर भी परिग्रहके पाशमे पड़ा हुआ कोई विरला पुरुष ही छूट सकता है; वृत्ति इसीमे लटकी रहती है; परन्तु यह वृत्ति किसी कालमे सुख-दायक या आत्महितैषी नही हुई है। जिन्होने इसकी मर्यादा कम नही की वे वहुत दु खके भोगी हुए हैं।

छ खडोको जीतकर आज्ञा मनानेवाले राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाते है। इन समर्थ चक्रवर्तियोमे सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। उसने छ खड जीत लिये इसलिए वह चक्रवर्ती माना गया, परन्तु इतनेसे उसकी मनोवांछा तृप्त न हुई, अभी वह प्यासा रहा। इसलिए धातकी खडके छ खड जीतनेका उसने निश्चय किया। "सभी चक्रवर्ती छ खड जीतते हैं, और मैं भी इतने ही जीतूँ, इसमे महत्ता कौनसी ? वारह खड जीतनेसे मैं चिरकाल तक नामी-गिरामी रहूँगा, और उन खंडोपर जीवनपर्यंत समर्थ आज्ञा चला सकूँगा।" इस विचारसे उसने समुद्रमे चर्मरत्न छोड़ा, उस पर सर्व सैन्यादिका आधार था। चर्मरत्नके एक हज़ार देवता

सेवक कहे जाते है। उनमेसे प्रथम एकने विचार किया कि न जाने कितने ही वर्षोंमे इससे छुटकारा होगा ? इसलिए देवागनासे तो मिल आऊँ, ऐसा तय करके वह चला गया, फिर दूसरा गया, तीसरा गया, और यो करते-करते हजारके हजार देवता चले गये। तब चर्मरत्न डूब गया; अश्व, गज और सर्व सैन्यसहित सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। पापभावनामे और पापभावनामे मरकर वह अनन्त दुःखभरे सातवे तमतमप्रभा नरकमे जाकर पडा। देखो ! छ खंडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरेके लिए तो कहना ही क्या ? परिग्रह पापका मूल है, पापका पिता है, अन्य एकादश व्रतको महा दूषित कर दे ऐसा इसका स्वभाव है। इसलिए आत्महितैषी यथासंभव इसका त्याग करके मर्यादापूर्वक आचरण करे।

•

शिक्षापाठ २६

तत्त्वका समझना

ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं जिन्हे शास्त्रोंके शास्त्र मुखाग्र हो; परंतु जिन्होने थोड़े वचनोपर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार करके शास्त्र जितना ज्ञान हृदयगत किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। तत्त्व पा जाना यह कोई छोटी बात नहीं है, कूदकर समुद्र लाँघ जाना है।

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, अर्थ अर्थात् तत्त्व और अर्थ अर्थात् शब्दका दूसरा नाम। इस प्रकार 'अर्थ' शब्दके बहुत अर्थ होते है। परंतु यहाँ अर्थ अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ-प्रवचन-मे आये हुए पवित्र वचनोको मुखाग्र करते हैं, वे अपने उत्साहके

बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं; परतु यदि उनका मर्म पाया हो तो इससे वे सुख, आनन्द, विवेक और परिणाममें महान् फल पाते हैं। अनपढ़ पुरुष जितना सुन्दर अक्षर और खीची हुई मिथ्या लकीरें इन दोनोंके भेदको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रथ-विचार और निर्ग्रंथ-प्रवचनके भेदको मानता है, क्योकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ-वचनामृतको धारण नही किया है और उस पर यथार्थ तत्त्व-विचार नही किया। यद्यपि तत्त्वविचार करनेमे समर्थ वुद्धिप्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार कर सकता है। पत्थर पिघलता नही तो भी पानीसे भीग जाता है। इसी प्रकार जिसने वचनामृत कठस्थ किये हैं, वे अर्थसहित हो तो बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, नही तो तोतेवाला रामनाम। तोतेको कोई परिचयसे रामनाम कहना भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने कि राम अनार है कि अगूर। सामान्य अर्थके समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योका एक दृष्टात कहा जाता है, वह कुछ हास्ययुक्त है सही; परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिए उसे यहाँ कह देता हूँ।

कच्छके किसी गाँवमे श्रावक धर्मको पालते हुए रायसी, देवसी और खेतसी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे सध्याकाल और प्रात.कालमे नियमित प्रतिक्रमण करते थे। प्रात.कालमे रायसी और सध्याकालमे देवसी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिसबधी प्रति-क्रमण रायसी कराता था, और रात्रिके सबधसे [1]'रायसी पडिक्क-मणु ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पडता था। इसी तरह देवसीको दिनका संबध होनेसे [2]'देवसी पडिक्कमणुं ठायमि' यह बुलवाना पड़ता था। योगानुयोगसे एक दिन बहुतोंके आग्रहसे

१ मूल पाठ—राइय पडिक्कमण ठाएमि।

२ मूल पाठ—देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि।

संध्याकालमें खेतसीको प्रतिक्रमण बुलवानेके लिए बैठाया। खेतसी-ने जहाँ 'देवसी पडिक्कमणुं ठायमि', ऐसा आया, वहाँ 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायमि' यह वाक्य लगा दिया! यह सुनकर सब हास्य-ग्रस्त हो गए और पूछा, ऐसा क्यो? खेतसी बोला, "क्यो, क्या बात है?" वहाँ उत्तर मिला, 'खेतसी पडिक्कमणु ठायमि' ऐसा आप क्यो बोलते है? खेतसी ने कहा, 'मै गरीब हूँ इसलिए मेरा नाम आया कि एकदम सीधे तकरार खड़ी कर दी, परन्तु रायसी और देवसीके लिए तो किसी दिन कोई बोलता भी न था। ये दोनों क्यो 'रायसी पडिक्कमणुं ठायमि' 'देवसी पडिक्कमणु ठायंमि' ऐसा कहते हैं, तो फिर मै 'खेतसी पडिक्कमणुं ठायंमि' यो क्यो न कहूँ? इसकी भद्रिकताने तो सबका मन बहलाया, बादमे उसे प्रति-क्रमणका कारणसहित अर्थ समझाया, जिससे खेतसी अपने रटे हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य वार्ता है; परन्तु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ उसपर बहुत विचार कर सकते हैं। बाकी तो गुड़ जैसे मीठा ही लगता है वैसे ही निर्ग्रंथ-वचनामृत भी सत्फल ही देते है। अहो! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है!

●

शिक्षापाठ २७

यतना

जैसे विवेक धर्मका मूल तत्त्व है, वैसे ही यतना धर्मका उप-तत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्वका ग्रहण किया जाता है और यतनासे वह तत्त्व शुद्ध रखा जाता है, उसके अनुसार आचरण किया जा सकता है। पाँच समितिरूप यतना तो बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्था-श्रमीसे वह सर्व भावसे पाली नही जा सकती, फिर भी जितने

भावाशमे पाली जा सके उतने भावांशमे भी असावधानीसे वह पाल नहीं सकता। जिनेश्वर भगवान्से बोधित स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेपरवाई है वहाँ बहुत दोषसे पाली जा सकती है। जिसका कारण यतनाकी न्यूनता है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसकी जीवानी रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठादि ईंधनका बिना झाड़े और विना देखे उपयोग करना, अनाजमे रहे हुए सूक्ष्म जन्तुओंकी अपूर्ण देखभाल, पोछे-मांजे विना रहने दिए हुए बरतन, अस्वच्छ रखे हुए कमरे, आँगनमे पानीका गिराना, जूठनका रख छोड़ना, पटरेके विना खूब गरम थालीका नीचे रखना, इनसे अपनेको अस्वच्छता, असुविधा, अनारोग्य इत्यादि फल मिलते हैं, और ये महा पापके कारण भी हो जाते हैं। इसलिए कहनेका आशय यह है कि चलनेमे, बैठनेमें, उठनेमे, जीमनेमें और दूसरी प्रत्येक क्रिया-मे यतनाका उपयोग करना। इसमे द्रव्य एवं भाव दोनो प्रकारसे लाभ है। चाल धीमी और गभीर रखनी, घर स्वच्छ रखना, पानी विधिसहित छानना-छनवाना, काष्ठादि ईंधन झाड़कर डालना, ये कुछ हमारे लिए असुविधाजनक कार्य नही हैं और इनमे विशेष वक्त भी नही जाता। ऐसे नियम दाखिल कर देनेके बाद पालने मुश्किल नही हैं। इनसे बिचारे असख्यात निरपराधी जन्तु बचते हैं।

प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

●

शिक्षापाठ २८

रात्रिभोजन

अहिंसादिक पच महाव्रत जैसा भगवान्ने रात्रिभोजन त्याग-व्रत कहा है। रात्रिमे जो चार प्रकारका आहार है वह अभक्ष्यरूप

है। जिस प्रकारका आहारका रंग होता है उस प्रकारके तमस्काय नामके जीव उस आहारमे उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त भी रात्रिभोजनमें अनेक दोष हैं। रात्रिमे भोजन करनेवालेको रसोईके लिए अग्नि जलानी पड़ती है, तब समीपकी भीतपर रहे हुए निरपराधी सूक्ष्म जन्तु नष्ट होते हैं। ईंधनके लिए लाये हुए काष्ठादिकमे रहे हुए जन्तु रात्रिमे न दीखनेसे नष्ट होते हैं, तथा सर्पके विषका, मकड़ीकी लारका और मच्छरादिक सूक्ष्म जन्तुओंका भी भय रहता है। कभी यह कुटुंब आदिके लिए भयकर रोगका कारण भी हो जाता है।

पुराण आदि मतोसे भी सामान्य आचारके लिए रात्रिभोजनके त्यागका विधान है, फिर भी उनमे परंपराकी रूढ़िसे रात्रिभोजन घुस गया है, परंतु यह निषिद्ध तो है ही।

शरीरके अंदर दो प्रकारके कमल हैं, वे सूर्यास्तसे संकुचित हो जाते हैं; इसलिए रात्रिभोजनमे सूक्ष्म जीवोका भक्षण होनेसे अहित होता है, जो महा रोगका कारण है, ऐसा कई स्थलोमें आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष तो दो घड़ी दिन रहने पर ब्यालू करते हैं, और दो घड़ी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नही करते। रात्रिभोजनके लिए विशेष विचार मुनि-समागमसे या शास्त्रसे जानना। इस संवधमे बहुत सूक्ष्म भेद जानने आवश्यक है। रात्रिमें चार प्रकारके आहारका त्याग करनेसे महा फल है, यह जिन-वचन है।

•

शिक्षापाठ २९

सब जीवोंकी रक्षा—भाग १

दया जैसा एक भी धर्म नही है। दया ही धर्मका स्वरूप है।

जहाँ दया नही वहाँ धर्म नही। जगतीतलमे ऐसे अनर्थकारक धर्म-मत प्रचलित है, जो यह कहते हैं कि जीवका हनन करनेमे लेश मात्र भी पाप नही होता, बहुत तो मनुष्यदेहकी रक्षा करो, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार ये धर्ममतवाले जनूनी और मदांध है, और दयाका लेश स्वरूप भी नही जानते। यदि ये लोग अपने हृदयपटको प्रकाशमे रखकर विचार करें तो उन्हे अवश्य मालूम होगा कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जतुके हननमे भी महा पाप है। मुझे अपनी आत्मा जैसी प्रिय है, उसे भी अपनी आत्मा वैसी प्रिय है। मै अपने थोडेसे व्यसन या लाभके लिए ऐसे असख्यात जीवोका बेधड़क वध करता हूँ, यह मेरे लिए कितने अधिक अनत दु.खका कारण हो जायेगा? उनमे बुद्धिका बीज भी न होनेसे वे ऐसा विचार नही कर सकते। वे दिन-रात पाप ही मे मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पथोमे भी सूक्ष्म दयासबधी कोई विचार देखनेमे नही आता, तो भी ये दयाको सर्वथा न समझनेवालोकी अपेक्षा बहुत उत्तम है। स्थूल जीवोकी रक्षा करनेमे ये ठीक समझे हैं, परतु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं कि जहाँ एक पुष्पपखड़ी भी दु खी होती हो वहाँ पाप है, इस खरे तत्त्वको समझे और यज्ञ-यागादिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे हैं। प्रयत्नसे जीवोको भरसक बचाते हैं, फिर भी जानबूझकर जीवहिंसा करनेकी हमारी लेश मात्र इच्छा नही है। अनतकाय अभक्ष्यसे प्राय. हम विरक्त ही हैं। इस कालमें यह समस्त पुण्यप्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्व-बोधके योगबलसे बढा है।

मनुष्य ऋद्धि पाते है, सुन्दर स्त्री पाते है, आज्ञाकारी पुत्र पाते हैं, बडा कुटुम्ब परिवार पाते हैं, मानप्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं और यह सब पाना कुछ दुर्लभ नही है, परतु खरा धर्मतत्त्व या उसकी श्रद्धा या उसका थोड़ा अश पाना महा दुर्लभ है। यह ऋद्धि

इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनत दु:खमें डाल देती है, परंतु यह थोड़ी श्रद्धाभावना भी उत्तम पदवीपर पहुँचाती है। इस तरह दयाका सत् परिणाम है। हमने धर्मतत्त्वयुक्त कुलमे जन्म पाया है, तो अव यथासंभव हम विमल दयामय वर्तनको अपनायें। वारंवार यह ध्यानमे रखे कि सव जीवोकी रक्षा करनी है। दूसरोको भी युक्ति-प्रयुक्तिसे ऐसा ही वोध दे। सव जीवोकी रक्षा करनेके लिए एक वोधदायक उत्तम युक्ति वुद्धिशाली अभयकुमारने की थी उसे मैं अगले पाठमे कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्ववोधके लिए यौक्तिक न्यायसे अनार्य जैसे धर्ममतवादियोको शिक्षा देनेका अवसर मिले तो हम कैसे भाग्यशाली!

●

शिक्षापाठ ३०

सव जीवोंकी रक्षा—भाग २

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज श्रेणिक एक समय सभा भरकर वैठा था। प्रसगात् वातचीतके प्रसगमे जो मासलुब्ध सामंत थे वे वोले कि आजकल मांस विशेष सस्ता है। यह वात अभयकुमारने सुनी। इससे उसने उन हिंसक सामतोको वोध देनेका निश्चय किया। साय सभा विसर्जित हुई और राजा अंत:पुरमे गया। उसके वाद अभयकुमार कर्तव्यके लिए जिस जिसने मासकी वात कही थी उस उसके घर गया। अभयकुमार जिस सामंतके घर गया स्वागत करनेके वाद उसने पूछा—"आप किस लिए परिश्रम उठा कर मेरे घर पधारे हैं?" अभयकुमारने कहा—"महाराजा श्रेणिकको अकस्मात् महा रोग उत्पन्न हुआ है। वैद्योको इकट्ठे करने पर उन्होने कहा कि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा टंकभर मांस हो तो यह रोग

मिटे। आप राजाके प्रियमान्य हैं, इसलिए आपके यहाँ यह मांस लेने आया हूँ।" सामंतने विचार किया—"कलेजेका मांस मैं मरे बिना किस तरह दे सकूँ?" इसलिए अभयकुमारसे पूछा—"महाराज, यह तो कैसे हो सके?" ऐसा कहनेके बाद अपनी बात राजाके आगे प्रगट[1] न करनेके लिए अभयकुमारको बहुतसा द्रव्य दिया जिसे अभयकुमारने ले लिया। इस प्रकार अभयकुमार सभी सामंतोंके घर फिर आया। सभी मांस न दे सके और अपनी बातको छुपानेके लिए उन्होंने द्रव्य दिया।

उसके बाद जब दूसरे दिन सभा मिली तब सामंत अपने-अपने आसनपर आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामंत आ-आकर राजासे कलकी कुशल पूछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला—"महाराज! कल आपके सामंत सभामें बोले थे कि आजकल मांस सस्ता मिलता है, इसलिए मैं उनके यहाँ मांस लेने गया था, तब सबने मुझे बहुत द्रव्य तो दिया परंतु कलेजेका सवा पैसा भर मांस नहीं दिया। तब यह मांस सस्ता कि महँगा?" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे। कोई कुछ बोल न सका। फिर अभयकुमारने कहा—"यह मैंने कुछ आपको दुःख देनेके लिए नहीं किया परंतु बोध देनेके लिए किया है। यदि हमें अपने शरीरका मांस देना पड़े तो अनंत भय होता है, क्योंकि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी प्रकार जिस जीवका वह मांस होगा उसे भी अपना जीव प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुएँ देकर भी अपनी देहको बचाते हैं वैसे ही उन बिचारे पामर प्राणियोंको भी होना चाहिए। हम समझवाले बोलते-चालते प्राणी हैं, वे बिचारे अवाचक और नासमझ हैं। उन्हें मौतका दुःख दें यह कैसा पापका प्रबल

1. द्वि० आ० पाठ० 'इसलिए प्रत्येक सामंत देता गया और वह'

कारण है। हम इस वचनको निरंतर ध्यानमें रखें, कि सब प्राणियोंको अपना जीव प्यारा है, और सब जीवोंकी रक्षा करना इस जैसा एक भी धर्म नही है।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजा संतुष्ट हुआ, सभी सामंतोने भी बोध पाया। उन्होने उस दिनसे मांस न खानेकी प्रतिज्ञा की, क्योकि एक तो यह अभक्ष्य है, और दूसरे किसी जीवको मारे बिना मिलता नहीं है, यह बड़ा अधर्म है। इसलिए अभय प्रधानका कथन सुनकर उन्होने अभयदानमें ध्यान दिया, जो आत्माके परम सुखका कारण है।

शिक्षापाठ ३१

प्रत्याख्यान

'पच्चक्खान' शब्द वारंवार तुम्हारे सुननेमे आया है। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है, और यह अमुक वस्तुकी ओर चित्त न जाने देनेका जो नियम करना उसके लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु वड़ा उत्तम तथा सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान न करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ अथवा उसका भोग न करो तो भी उससे संवर नही होता, कारण कि तत्त्वरूपसे इच्छाका निरोध नही किया है। रातमें हम भोजन न करते हों, परन्तु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपसे नियम न किया हो तो वह फल नही देता, क्योकि अपनी इच्छाके द्वार खुले रहते है। जैसे घरका द्वार खुला हो और श्वान आदि प्राणी या मनुष्य भीतर चले आते हैं वैसे ही इच्छाके द्वार खुले हों तो उनसे कर्म प्रवेश करते हैं। अर्थात् उस ओर अपने विचार आजादीसे जाते हैं। यह कर्मबंधनका कारण है। और यदि प्रत्याख्यान हो तो फिर उस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा

नही होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठका मध्य भाग हमसे देखा नही जा सकता; इसलिए उस ओर हम दृष्टि भी नही करते; वैसे ही प्रत्याख्यान करनेसे अमुक वस्तु खायी या भोगी नही जा सकती, इसलिए उस ओर अपना ध्यान स्वभावत नही जाता। यह कर्म आनेके वीचमे कोट हो पड़ता है। प्रत्याख्यान करनेके वाद विस्मृति आदिके कारण कोई दोष लग जाये तो उसके निवारणके लिए महात्माओने प्रायश्चित्त भी वताये हैं।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी वड़ा लाभ है, वह यह कि अमुक वस्तुओमे ही हमारा ध्यान रहता है, वाकी सव वस्तुओका त्याग हो जाता है। जिस-जिस वस्तुका त्याग किया है, उस-उस वस्तुके सवधमे फिर विशेष विचार, उसका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई उपाधि नही रहती। इससे मन अति विस्तारको न पाकर नियमरूपी सड़कपर चलता जाता है। अश्व यदि लगाममे आ जाता है तो फिर चाहे जैसा प्रवल होनेपर भी उसे निर्धारित रास्तेसे ले जाया जाता है, वैसे ही मन इस नियमरूपी लगाममे आनेके वाद चाहे जैसी शुभ राहमे ले जाया जाता है; और उसमे वारवार पर्यटन करनेसे वह एकाग्र, विचारशील और विवेकी हो जाता है। मनका आनद शरीरको नीरोग वनाता है। और अभक्ष्य, अनतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर नीरोग रह सकता है। मादक पदार्थ मनको उलटे रास्तेपर ले जाते हैं, परतु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुकता है, इससे वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान, यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह वात इससे तुम समझे होगे। विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मै वोध करता हूँ।

●

शिक्षापाठ ३२

विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जब श्रेणिक राजा विराजमान था तब उस नगरीमें एक चांडाल रहता था, एक बार उस चांडालकी स्त्रीको गर्भ रहा तब उसे आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आम ला देनेके लिए चांडालसे कहा। चांडालने कहा, "यह आमोंका मौसम नही है इसलिए मैं निरुपाय हूँ, नही तो मै आम चाहे जितने ऊँचे स्थानपर हो वहाँसे अपनी विद्याके बलसे लाकर तेरी इच्छा पूर्ण करूँ।" चांडालीने कहा, "राजाकी महारानीके बागमे एक असमयमे आम देनेवाला आमका पेड़ है, वह अभी आमोसे लचक रहा होगा, इसलिए वहाँ जाकर उन आमोको ले आये।" अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके लिए चांडाल उस बागमें गया। गुप्तरूपसे आमके पास जाकर मन्त्र पढकर उसे झुकाया और आम तोड़ लिये। दूसरे मन्त्रसे उसे जैसेका तैसा कर दिया। बादमे वह घर आया। फिर अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिए वह चांडाल निरन्तर विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते मालीकी दृष्टि आमकी तरफ गयी। आमोंकी चोरी हुई देखकर उसने जाकर श्रेणिक राजाके सामने नम्रतापूर्वक कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिसे उस चांडालको खोज निकाला। चांडालको अपने सामने बुलाकर पूछा, "इतने सब मनुष्य बागमे रहते हैं, फिर भी तू किस तरह चढ़कर आम ले गया कि यह बात किसीके भाँपनेमे भी न आयी? सो कह।" चांडालने कहा, "आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है। उसके योगसे मैं उन आमोको ले सका।" अभयकुमारने कहा, "मुझसे

तो क्षमा नही दी जा सकती; परन्तु महाराजा श्रेणिकको तू यह विद्या दे तो उन्हे ऐसी विद्या लेनेकी अभिलाषा होनेसे तेरे उपकारके बदलेमे मै अपराध क्षमा करा सकूँ।" चाडालने वैसा करना स्वीकार किया। फिर अभयकुमारने चाडालको, जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासनपर बैठा था वहाँ लाकर सामने खड़ा रखा; और सारी बात राजाको कह सुनायी। इस बातको राजाने स्वीकार किया। फिर चांडाल सामने खडे रहकर थरथराते पैरोंसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परंतु वह बोध नही लगा। झट खड़ा होकर अभयकुमार बोला, "महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी हो तो सामने आकर खड़े रहे, और इसे सिंहासन दें।" राजाने विद्या लेनेके लिए वैसा किया तो तत्काल विद्या सिद्ध हो गयी।

यह बात केवल बोध लेनेके लिए है। एक चांडालकी भी विनय किये बिना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, तो इसमेसे यह तत्त्व ग्रहण करना है कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिए विनय करनी। आत्मविद्या पानेके लिए यदि हम निर्ग्रंथ गुरुकी विनय करें तो कैसा मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। भगवान्‌ने उत्तराध्ययनमे विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णित किया है। गुरुकी, मुनिकी, विद्वान्‌की, माता-पिताकी, और अपनेसे बड़ोकी विनय करना यह अपनी उत्तमताका कारण है।

●

शिक्षापाठ ३३

सुदर्शन सेठ

प्राचीन कालमें शुद्ध एकपत्नीव्रतको पालनेवाले असंख्य पुरुष

हो गये हैं, उनमेंसे संकट सहन करके प्रसिद्ध होनेवाला सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी है। यह धनाढ्य, सुन्दर मुखाकृतिवाला, कांतिमान् और युवावस्थामें था। जिस नगरमें वह रहता था, उस नगरके राजदरबारके सामनेसे किसी कार्य-प्रसंगके कारण उसे निकलना पड़ा। वह जब वहाँसे निकला तब राजाकी अभया नामकी रानी अपने आवासके झरोखेमे बैठी थी। वहाँसे सुदर्शनकी ओर उसकी दृष्टि गयी। उसका उत्तम रूप और काया देखकर उसका मन ललचाया। एक अनुचरीको भेजकर कपट भावसे निर्मल कारण बताकर सुदर्शनको ऊपर बुलाया। कितने ही प्रकारकी बातचीत करनेके बाद अभयाने सुदर्शनको भोग भोगने-का आमंत्रण दिया। सुदर्शनने बहुत-सा उपदेश दिया तो भी उसका मन शांत नही हुआ। आखिर तंग आकर सुदर्शनने युक्तिसे कहा—"बहिन! मै पुरुषत्वहीन हूँ!" तो भी रानीने अनेक प्रकारके हावभाव किये। परंतु उन सारी कामचेष्टाओंसे सुदर्शन विचलित नही हुआ। इससे तंग आकर रानीने उसे जाने दिया।

एक बार उस नगरमें उत्सव था, इसलिए नगरके बाहर नगर-जन आनंदसे इधर-उधर घूमते थे। धूमधाम मची हुई थी। सुदर्शन सेठके छ. देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठबाटसे वहाँ आयी थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छ. पुत्र उसके देखनेमे आये। उसने कपिलासे पूछा, "ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं?" कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। यह नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानो कटार भोकी गयी, उसे घातक चोट लगी। सारी धूमधाम बीत जानेके बाद माया-कथन गढ़कर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा—"आप मानते होंगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीतिका दौरदौरा है, दुर्जनोंसे मेरी प्रजा दु.खी नही है परंतु यह सब मिथ्या है। अंत.-पुरमें भी दुर्जन प्रवेश करें यहाँ तक अभी अंधेर है। तो फिर दूसरे

स्थानोके लिए तो पूछना ही क्या ? आपके नगरके सुदर्शन नामके सेठने मुझे भोगका आमत्रण दिया, न कहने योग्य कथन मुझे सुनने पडे, परतु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अधेर कौनसा कहा जाय !" राजा मूलत कानके कच्चे होते हैं, यह बात तो मानो सर्वमान्य है, उसमे फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर न करें ? तत्ते तेलमें ठडे जल जैसे वचनोंसे राजा क्रोधायमान हुआ। उसने सुदर्शनको शूली पर चढ़ा देनेकी तत्काल आज्ञा कर दी और सब कुछ हो भी गया। मात्र सुदर्शनके शूली पर चढनेकी देर थी।

चाहे जो हो परंतु[1] सृष्टिके दिव्य भंडारमे उजाला है। सत्यका प्रभाव ढका नही रहता। सुदर्शनको शूलीपर बिठाया कि शूली मिट कर चमचमाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गयी, और देव-दुदुभिका नाद हुआ, सर्वत्र आनद छा गया। सुदर्शनका सत्य शील विश्वमडलमे झलक उठा। सत्य शीलकी सदा जय है। शील और सुदर्शनकी उत्तम दृढता ये दोनो आत्माको पवित्र श्रेणिपर चढाते हैं।

•

शिक्षापाठ ३४

ब्रह्मचर्य विषे सुभाषित

(दोहे)

नीरखीने नवयौवना, लेश न विषयनिदान।
गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवान समान ॥ १ ॥

---

१ द्वि. आ पाठा —'जगतके।'

आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप।
ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप ॥ २॥
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ ससार।
नृपति जीततां जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार ॥३॥
विषयरूप अंकुरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान।
लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान ॥ ४॥
जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदाई।
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई ॥ ५॥
सुंदर शियळ सुरतरु, मन वाणी ने देह।
जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह ॥ ६॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७॥

●

ब्रह्मचर्यसंबंधी सुभाषित

भावार्थ—नवयौवनाको देखकर जिसके मनमे विषय-विकारका लेश भी उदय नही होता और जो उसे काठकी पुतली समझता है, वह भगवान्‌के समान है ॥ १॥

इस सारे संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा दु:ख-स्वरूप है, जिसने इसका त्याग कर दिया उसने सब कुछ त्याग दिया ॥ २॥

जिस प्रकार एक नृपतिको जीतनेसे उसका सैन्य, नगर और अधिकार जीते जाते हैं, उसी प्रकार एक विषयको जीतनेसे सारा संसार जीता जाता है ॥ ३॥

जैसे लेश-भर मदिरापानसे मनुष्य ज्ञान खोकर नशेसे उन्मत्त हो जाता है, वैसे थोडी-सी विषय-वासनासे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाते हैं ॥ ४॥

जो नौ वाडपूर्वक विशुद्ध एवं सुखदायी ब्रह्मचर्यका पालन

करता है, फिर उसका भवभ्रमण लवलेश रह जाता है। हे भाई! यह तत्त्ववचन है ॥ ५ ॥

जो नर-नारी मन, वचन और कायासे शीलरूप सुन्दर कल्पवृक्षका सेवन करेंगे वे अनुपम फलको पायेंगे ॥ ६ ॥

पात्रके बिना वस्तु नही रहती, पात्रमे ही आत्मज्ञान होता है। इसलिए हे मतिमान मनुष्यो! पात्र बननेके लिए सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करें ॥ ७ ॥

●

शिक्षापाठ ३५

नवकार मंत्र

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमे नवकार मंत्र, नमस्कार मंत्र या पंचपरमेष्ठी मंत्र कहते हैं।

अर्हत् भगवान्के बारह गुण, सिद्ध भगवान्के आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायके पच्चीस गुण, और साधुके सत्ताईस गुण मिलकर एक सौ आठ गुण होते हैं। अँगूठेके बिना बाकीकी चार अँगुलियोंकी बारह पोरें होती है, और इनसे इन गुणोंका चिंतन करनेकी योजना होनेसे बारहको नौ से गुणा करने पर १०८ होते हैं। इसलिए नवकार कहनेमें ऐसा सूचन गर्भित

मालूम होता है कि हे भव्य ! अपनी अँगुलियोंकी पोरोसे नवकार मंत्र नौ बार गिन। 'कार' शब्दका अर्थ 'करनेवाला' भी होता है। बारहको नौ से गुणा करनेपर जितने हो उतने गुणोंसे भरा हुआ मंत्र, इस प्रकार नवकार मत्रके तौर पर इसका अर्थ हो सकता है। और पचपरमेष्ठी अर्थात् इस सकल जगत्मे पाँच वस्तुएँ परमोत्कृष्ट हैं, वे कौन कौनसी ? तो कह बतायी कि अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हे नमस्कार करनेका जो मत्र वह परमेष्ठी मंत्र, और पाँच परमेष्ठियोको एक साथ नमस्कार होनेसे 'पचपरमेष्ठीमंत्र' ऐसा शब्द हुआ। यह मत्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध है। इसलिए ये पाँचों पात्र आदि रूप नही है, प्रकारसे अनादि हैं, और उसका जपनेवाला भी अनादिसिद्ध है। इसलिए यह जाप भी अनादि सिद्ध ठहरता है।

प्रश्न—इस पचपरमेष्ठी मत्रको परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गति पाता है, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। इस विषयमें आपका क्या मत है ?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मै मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सके ?

उत्तर—हाँ। यह मै तुम्हे समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिए एक तो सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणोका यह चिंतन है। तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हत्स्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप, इनका विवेकपूर्वक विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योंकि वे किस कारणसे पूजने योग्य हैं ? ऐसा विचार करनेपर इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि इससे यह मंत्र कितना कल्याणकारक है ?

प्रश्नकर्त्ता—सत्पुरुष नवकार मत्रको मोक्षका कारण कहते है, इसे इस व्याख्यानसे मै भी मान्य रखता हूँ ।

अर्हत् भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य बनता है । जिसका ॐ ऐसा योगबिंदुका स्वरूप होता है । इसलिए हम इस मंत्रका अवश्य ही विमलभावसे जाप करें ।

●

शिक्षापाठ ३६

अनानुपूर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस प्रकारके कोष्ठकसे भरी हुई एक छोटी पुस्तक है उसे तूने देखा है ?

पुत्र—हाँ, पिताजी ।

पिता—इसमें उलटे-सीधे अक रखे हैं उसका कुछ कारण तेरी समझमे आया है ?

पुत्र—नही, पिताजी मेरी समझमे नही आया । इसलिए आप वह कारण बताइये ।

पिता—पुत्र ! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चंचल वस्तु है, और इसे एकाग्र करना अत्यत विकट है । वह जब तक एकाग्र नही होता तब तक आत्ममलिनता नही जाती, पापके विचार कम नही होते । इस एकाग्रताके लिए भगवान्ने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधन कहे हैं । मनकी एकाग्रतासे महा योगकी श्रेणि-पर चढ़नेके लिए और उसे अनेक प्रकारसे निर्मल करनेके लिए सत्पुरुषोने एक कोष्ठकावली बनायी है । इसमें पहले पचपरमेष्ठी मंत्रके पाँच अंक रखे हैं, और फिर लोमविलोम स्वरूपसे इन पॉच अंकोको लक्ष्यबद्ध करके भिन्न-भिन्न प्रकारसे कोष्ठक बनाये हैं । ऐसा करनेका कारण भी यही है कि मनकी एकाग्रता प्राप्त करके निर्जरा की जा सके ।

पुत्र—पिताजी ! अनुक्रमसे लेनेसे ऐसा क्यो नही हो सकता ?

पिता—यदि लोमविलोम हो तो उन्हे व्यवस्थित करते जाना पड़े और नाम याद करते जाना पडे । पाँचका अक रखनेके बाद दोका अंक आये कि 'नमो लोए सव्वसाहूण' के बाद 'नमो अरिहताण' यह वाक्य छोड़कर 'नमो सिद्धाणं' यह वाक्य याद करना पड़े । इस प्रकार पुन पुन ध्यानकी एकाग्रता रखते हुए मन एकाग्रतापर पहुँचता है । यदि ये अंक अनुक्रमबद्ध हों तो वैसा नही हो सकता, क्योकि विचार नही करना पड़ता । इस सूक्ष्म समयमे मन

पचपरमेष्ठी मत्रमेसे निकलकर ससारतत्रकी खटपटमें जा पडता है, और धर्म करते करते कभी अनर्थ भी कर डालता है, इसलिए सत्पुरुषोने इस अनानुपूर्वीकी योजना की है, यह बहुत सुन्दर है और आत्मशातिको देनेवाली है।

शिक्षापाठ ३७

सामायिकविचार—भाग १

आत्मशक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्ज्ञानदर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधि-भावमे प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला और रागद्वेषमे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला ऐसा सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' अर्थात् रागद्वेष-रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' अर्थात् उस समभावसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानदर्शनचारित्ररूप मोक्षमार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिससे मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो वह 'सामायिक'। आर्त्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायाके पाप भावोको रोक-कर विवेकी श्रावक सामायिक करता है।

मनके पुद्गल [1]दोरगे हैं। सामायिकमे जब विशुद्ध परिणामसे रहना कहा है तब भी यह मन आकाश-पातालकी योजनाएँ बनाया करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचनकायामे भी दूषण आनेसे सामायिकमे दोष लगता है। मन, वचन और कायाके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस

१. पाठा०—तरंगी।

मनके, दस वचनके और बारह कायाके इस प्रकार बत्तीस दोषोको जानना आवश्यक है। जिन्हे जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ—

१. **अविवेकदोष**—सामायिकका स्वरूप न जाननेसे मनमे ऐसा विचार करे कि इससे क्या फल होनेवाला है? इससे तो कौन तरा होगा? ऐसे विकल्पोका नाम अविवेकदोष है।

२. **यशोवांछादोष**—स्वयं सामायिक करता है यह अन्य मनुष्य जाने तो प्रशंसा करे, इस इच्छासे सामायिक करे इत्यादि, यह 'यशोवाछादोष' है।

३. **लाभवांछादोष**—धन आदिके लाभकी इच्छासे सामायिक करना, यह 'धनवाछादोष' है।

४. **गर्वदोष**—मुझे लोग धर्मी कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसी ही करता हूँ? यह 'गर्वदोष' है।

५. **भयदोष**—मैं श्रावक कुलमे जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा समझकर सम्मान देते हैं; यदि मैं सामायिक नही करूँ तो कहेगे कि इतना भी नही करता, इससे निंदा होगी यह, 'भयदोष' है।

६ **निदानदोष**—सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना, यह 'निदानदोष' है।

७. **संशयदोष**—सामायिकका परिणाम होगा कि नही? यह विकल्प करना 'सशयदोप' है।

८. **कषायदोष**—क्रोध आदिसे सामायिक करने वैठ जाय अथवा किसी कारणसे फिर क्रोध, मान, माया और लोभमे वृत्ति रखे, यह 'कषायदोष' है।

९ **अविनयदोष**—विनयरहित सामायिक करे, यह 'अविनय-दोष' है।

१० अवहुमानदोष—भक्तिभाव और उमगपूर्वक सामायिक न करे, यह 'अवहुमानदोप' है।

शिक्षापाठ ३८

सामायिकविचार—भाग २

मनके दस दोष कहे, अव वचनके दस दोप कहता हूँ—

१ कुवचनदोष—सामायिकमे कुवचन वोलना यह 'कुवचन-दोष' है।

२. सहसात्कारदोष—सामायिकमे साहससे अविचारपूर्वक वाक्य वोलना, यह 'सहसात्कारदोष' है।

३. असदारोपणदोष—दूसरेको खोटा उपदेश देना, यह 'असदारोपणदोष' है।

४. निरपेक्षदोष—सामायिकमे शास्त्रकी उपेक्षा करके वाक्य बोलना, यह 'निरपेक्षदोष' है।

५ संक्षेपदोष—सूत्रके पाठ इत्यादिक सक्षेपमे वोल डाले, और यथार्थ उच्चारण नही करे, यह 'सक्षेपदोष' है।

६. क्लेशदोष—किसीसे झगड़ा करे यह 'क्लेशदोष' है।

७. विकथादोष—चार प्रकारकी कथा ले वैठे, यह 'विकथा दोष' है।

८. हास्यदोष—सामायिकमे किसीकी हँसी, मसखरी करे, यह 'हास्यदोष' है।

९ अशुद्धदोष—सामायिकमे सूत्रपाठ न्यूनाधिक और अशुद्ध वोले, यह 'अशुद्धदोष' है।

१० **मुणमुणदोष**—सामायिकमे गड़बडीसे सूत्रपाठ वोले, जिसे स्वय भी पूरा मुश्किलसे समझ सके, यह 'मुणमुणदोष' है।

ये वचनके दस दोष कहे; अव कायाके वारह दोष कहता हूँ—

१ **अयोग्यासनदोष**—सामायिकमे पैर पर पैर चढ़ा कर वैठे, यह गुर्वादिकका अविनयरूप आसन है, इसलिए यह पहला 'अयोग्यासनदोष' है।

२ **चलासनदोष**—डगमगाते हुए आसनपर वैठकर सामायिक करे, अथवा जहाँसे वारवार उठना पड़े ऐसे आसनपर वैठे यह 'चलासनदोष' है।

३. **चलदृष्टिदोष**—कायोत्सर्गमे आँखे चचल रखे, यह 'चलदृष्टिदोप' है।

४ **सावद्यक्रियादोष**—सामायिकमे कोई पापक्रिया या उसकी सज्ञा करे, यह 'सावद्यक्रियादोष' है।

५ **आलंबनदोष**—भीत आदिका सहारा लेकर वैठे, इससे वहाँ वैठे हुए जन्तुओका नाश हो और प्रमाद हो, यह 'आलवनदोष' है।

६. **आकुंचनप्रसारणदोष**—हाथ-पैरका सिकोड़ना, लम्बा करना आदि, यह 'आकुचनप्रसारणदोष' है।

७. **आलसदोष**—अगका मरोड़ना, उँगलियाँ चटकाना, यह 'आलसदोष' है।

८. **मोटनदोष**—उँगली आदिका टेढ़ी करना, उसे चटकाना यह 'मोटनदोष' है।

९ **मलदोष**—घिस-घिस कर सामायिकमे खुजाकर मैल उतारे, यह 'मलदोष' है।

१०. **विमासणदोष**—गलेमे हाथ डालकर वैठे इत्यादि; यह विमासणदोप' है।

११. निद्रादोष—सामायिकमे ऊँघ आना, यह 'निद्रादोष' है।

१२. वस्त्रसंकोचनदोष—सामायिकमे ठड आदिकी भीतिसे वस्त्रसे शरीरको सिकोडे, यह 'वस्त्रसंकोचनदोष' है।

इन बत्तीस दूषणोसे रहित सामायिक करनी और पाँच अति-चार टालना।

•

शिक्षापाठ ३९.

सामायिकविचार—भाग ३

एकाग्रता और सावधानीके विना इन बत्तीस दोषोमेसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घडीका बाँधा है। यह व्रत सावधानपूर्वक करनेसे परम शान्ति देता है। कितनोका यह दो घडीका काल जब नही बीतता तब वे बहुत तग आ जाते हैं। सामायिकमे निठल्ले बैठनेसे काल बीते भी कहाँसे? आधुनिक कालमे सावधानीसे सामायिक करने-वाले बहुत ही थोड़े हैं। प्रतिक्रमण सामायिकके साथ करना होता है तब तो वक्त गुजरना सुगम पडता है। यद्यपि ऐसे पामर लक्ष-पूर्वक प्रतिक्रमण नही कर सकते। फिर भी केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा इसमें जरूर कुछ अंतर पडता है। जिन्हे सामायिक भी पूरी नहीं आती वे विचारे फिर सामायिकमे व्याकुल हो जाते हैं। बहुतसे भारीकर्मी इस अवसरमे व्यवहारके प्रपच भी गढ रखते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होती है।

विधिपूर्वक सामायिक न हो यह बहुत खेदकारक और कर्मकी बहुलता है। साठ घड़ीका अहोरात्र व्यर्थ चला जाता है। असख्यात दिनोसे भरपूर अनत कालचक्र व्यतीत करते हुए भी जो सार्थक नही हुआ उसे दो घड़ीकी विशुद्ध सामायिक सार्थक कर देती है।

लक्षपूर्वक सामायिक होनेके लिए सामायिकमे प्रवेश करनेके बाद चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता लाना। फिर सूत्रपाठ या उत्तम ग्रथका मनन करना। वैराग्यके उत्तम काव्य बोलना। पिछले अध्ययन किये हुएका स्मरण कर जाना। नूतन अभ्यास हो सके तो करना। किसीको शास्त्राधारसे बोध देना। इस तरह सामायिक काल व्यतीत करना। यदि मुनिराजका समागम हो तो आगमवाणी सुनना और उसका मनन करना; वैसा न हो और शास्त्रपरिचय न हो तो विचक्षण अभ्यासीके पाससे वैराग्यबोधक कथन श्रवण करना, अथवा कुछ अभ्यास करना। यह सारा योग न हो तो कुछ समय लक्षपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना, और कुछ समय महा पुरुषोकी चरित्रकथामें उपयोगपूर्वक लगाना। परंतु जैसे बने वैसे विवेक और उत्साहसे सामायिककाल व्यतीत करना। कोई साधन न हो तो पंचपरमेष्ठी मंत्रका जप ही उत्साहपूर्वक करना। परतु कालको व्यर्थ नही जाने देना। धैर्यसे, शातिसे और यतनासे सामायिक करना। जैसे बने वैसे सामायिकमे शास्त्रपरिचय बढ़ाना।

साठ घड़ीके वक्तमेसे दो घड़ी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करना।

•

शिक्षापाठ ४०

प्रतिक्रमण विचार

प्रतिक्रमण अर्थात् सामने जाना—स्मरण कर जाना—फिरसे

देख जाना—ऐसा इसका अर्थ हो सकता है। [1]जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करनेके लिए बैठे उस समयसे पहले उस दिन जो जो दोष हुए हो उन्हे एकके बाद एक देख जाना और उनका पश्चात्ताप करना या दोषोका स्मरण कर जाना इत्यादि सामान्य अर्थ भी है।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक सध्याकालमे और रात्रिके पिछले भागमे दिन और रात्रिमे यो अनुक्रमसे हुए दोषोका पश्चात्ताप या क्षमापना करते हैं, इसका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हम भी अवश्य करें; क्योकि आत्मा, मन, वचन और कायाके योगसे अनेक प्रकारके कर्म बाँधती है। प्रतिक्रमणसूत्रमें इसका दोहन किया हुआ है, जिससे दिन-रातमे हुए पापोका पश्चात्ताप उस द्वारा हो सकता है। शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे लेश पाप होते हुए परलोकभय और अनुकपा प्रगट होते हैं, आत्मा कोमल होती है, और त्याग करने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवान्की साक्षीसे अज्ञान इत्यादि जिन जिन दोषोका विस्मरण हुआ हो उनका पश्चात्ताप भी हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

इसका 'आवश्यक' भी नाम है। आवश्यक अर्थात् अवश्य करने योग्य, यह सत्य है। इससे आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिए अवश्य करने योग्य ही है।

सायकालमे जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसिय पडिक्कमण' अर्थात् दिवससबंधी पापका पश्चात्ताप और

---

१ द्वि० आ० पाठ०—भावकी अपेक्षासे जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करना हो, उस समयसे पहले अथवा उस दिन जो जो दोष हुए हो उन्हें एकके बाद एक अतरात्म भावसे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके दोषोंसे पीछे मुडना, यह प्रतिक्रमण है।

रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह 'राइय-पडिक्कमण' कहलाता है। 'देवसिय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमे करनेका प्रतिक्रमण पाक्षिक और सवत्सरमें करनेका सावत्सरिक कहलाता है। सत्पुरुषोने योजनासे बाँधा हुआ यह सुन्दर नियम है।

कितने ही सामान्य बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं कि दिन और रात्रिका सवेरे प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण किया हो तो कुछ हानि नही है; परतु यह कहना प्रामाणिक नही है। क्योंकि रात्रिमे यदि अकस्मात् कोई कारण या मृत्यु आ जाये तो दिवससबधी भी रह जाये।

प्रतिक्रमणसूत्रकी योजना बहुत सुन्दर है। इसके मूल तत्त्व बहुत उत्तम हैं। जैसे बने वैसे प्रतिक्रमण धैर्यसे, समझमे आनेवाली भाषासे, शातिसे, मनकी एकाग्रतासे और यतनापूर्वक करें।

शिक्षापाठ ४१

भिखारीका खेद—भाग १

एक पामर भिखारी जगलमे भटकता था। वहाँ उसे भूख लगी। इसलिए वह बिचारा लडखड़ाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारकी आजिजी की, उसकी गिडगिडाहटसे करुणा लाकर उस गृहस्थकी स्त्रीने घरमेसे जीमनेसे बढा हुआ मिष्टान्न भोजन लाकर उसे दिया। भोजन मिलनेसे भिखारी बहुत आनदित होता हुआ नगरके बाहर आया। आकर एक वृक्षके नीचे बैठा। वहाँ जरा सफाई करके उसने एक ओर अपना बहुत पुराना पानीका घड़ा

रख दिया, एक ओर अपनी फटी-पुरानी गुदडी रखी और एक ओर वह स्वय उस भोजनको लेकर बैठा। बहुत खुश होते हुए उसने वह भोजन खाकर पूरा किया। फिर सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे जरासी देरमें उसकी आँख लग गयी। वह निद्रावश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। उसने मानो स्वय महा राजऋद्धिको प्राप्त किया है; सुन्दर वस्त्रा-भूषण धारण किये हैं, सारे देशमे उसकी विजयका डका बज गया है, समीपमे उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिए अनुचर खड़े हो रहे हैं, आसपास छडीदार खमा-खमा पुकार रहे है, एक रमणीय महलमे सुन्दर पलगपर उसने शयन किया है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसकी पाँवचप्पी कर रही हैं, एक ओरसे पखेसे मद मद पवन दिया जा रहा है; ऐसे स्वप्नमे उसकी आत्मा तन्मय हो गयी। उस स्वप्नका भोग करते हुए उसके रोम उल्लसित हो गये। इतनेमे मेघ महाराज चढ आये, बिजली कौधने लगी, सूर्य देव बादलोसे ढक गया, सर्वत्र अधकार छा गया, मूसलधार वर्षा होगी ऐसा मालूम हुआ और इतनेमे घनगर्जितसे एक प्रबल कड़ाका हुआ। कडाकेकी आवाजसे भयभीत होकर बिचारा पामर भिखारी जाग उठा।

•

शिक्षापाठ ४२

भिखारीका खेद—भाग २

देखता है तो जिस जगह पानीका टूटा-फूटा घडा पडा था उसी जगह वह घडा पडा है, जहाँ फटी-पुरानी गुदडी पडी थी वही वहपड़ी है। उसने जैसे मलिन और जाली-झरोखेवाले कपड़े

पहन रखे थे वैसेके वैसे वे वस्त्र शरीरपर विराजते है। न तिलभर बढा कि न जौभर घटा। न है वह देश कि न है वह नगरी, न है वह महल कि न है वह पलंग, न है वे चमरछत्रधारी कि न है वे छडीदार, न हैं वे स्त्रियां कि न है वे वस्त्रालकार, न है वह पखा कि न है वह पवन, न हैं वे अनुचर कि न है वह आज्ञा, न है वह सुख-विलास कि न है वह मदोन्मत्तता। महाशय तो स्वयं जैसे थे वैसेके वैसे दिखायी दिये इससे उस देखावको देखकर वह खेदको प्राप्त हुआ। स्वप्नमे मैने मिथ्या आडबर देखा। उससे आनद माना। उसमेसे तो यहाँ कुछ भी नही है। मैने स्वप्नके भोग तो भोगे नही, और उसका परिणाम जो खेद है उसे मै भोग रहा हूँ, इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमें पड गया।

अहो भव्यो! भिखारीके स्वप्नकी भाँति ससारके सुख अनित्य हैं। जिस प्रकार स्वप्नमे उस भिखारीने सुखसमुदाय देखा और आनद माना, उसी प्रकार पामर प्राणी संसारस्वप्नके सुखसमुदायमें आनंद मानते हैं। जैसे वह सुखसमुदाय जागृतिमे मिथ्या मालूम हुआ वैसे ही ज्ञान प्राप्त होनेपर ससारके सुख वैसे मालूम होते हैं। स्वप्नके भोग न भोगनेपर भी जैसे भिखारीको खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे मोहांध प्राणी ससारमे सुख मान बैठते हैं, और उन्हे भोगे हुओंके समान मानते हैं, परतु परिणाममे खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप प्राप्त करते हैं। वे चपल और विनाशी होनेपर भी उनका परिणाम स्वप्नके खेद जैसा रहता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष आत्महितको खोजते हैं। संसारकी अनित्यतापर एक काव्य है कि—

उपजाति

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग,
आयुष्य ते तो जळना तरंग;

पुरंदरी चाप अनंगरंग,
शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग।

विशेषार्थ—लक्ष्मी विजली जैसी है, जैसे विजलीकी चमक उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है, वैसे लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रंग जैसा है। जैसे पतंगका रग चार दिनकी चाँदनी है, वैसे अधिकार मात्र थोडा काल रहकर हाथमेसे जाता रहता है। आयु पानीकी लहर जैसी है। जैसे पानीकी हिलोर आयी कि गयो वैसे जीवने जन्म पाया, और वह एक देहमे रहा या न रहा कि इतनेमे उसे दूसरी देहमें जाना पड़ता है। काम-भोग आकाशमे उत्पन्न होनेवाले इद्रधनुप जैसे हैं। जैसे इद्रधनुष वर्षाकालमे उत्पन्न होकर क्षणभरमे विलीन हो जाता है, वैसे यौवनमे कामके विकार फलीभूत होकर जरावयमें जाते रहते हैं। सक्षेपमे, हे जीव! इन सारी वस्तुओका संवध क्षणभरका है। इसमें प्रेमवधनकी साँकलसे वँधकर प्रसन्न क्या होना? तात्पर्य यह कि ये सव चपल और विनाशी है, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिए अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर! यह वोध यथार्थ है।

●

शिक्षापाठ ४३

अनुपम क्षमा

क्षमा अतर्शत्रुको जीतनेका खड्ग है। पवित्र आचारकी रक्षा करनेका वकतर है। शुद्ध भावसे असह्य दुःखमे समपरिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भवसागरको तर जाता है।

कृष्ण वासुदेवके गजसुकुमार नामके छोटे भाई महा स्वरूपवान् एव सुकुमार मात्र बारह वर्षकी आयुमे भगवान् नेमिनाथके पास ससारत्यागी होकर स्मशानमे उग्र ध्यानमें स्थित थे, तब वे एक अद्‌भुत क्षमामय चरित्रसे महा सिद्धिको पा गये, उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुरूपवर्णसंपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परंतु विवाह होनेसे पहले गजसुकुमार तो ससारत्याग कर चले गये। इसलिए अपनी पुत्रीके सुखनाशके द्वेषसे उस सोमल ब्राह्मणको भयकर क्रोध व्याप्त हो गया। गजसुकुमारकी खोज करता करता वह उस स्मशानमें आ पहुँचा जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमे थे। उसने कोमल गजसुकुमारके माथेपर चिकनी मिट्टीकी बाड बनाकर उसके अदर धधकते हुए अगारे भरे और उसे इंधनसे भर दिया, जिससे महा ताप उत्पन्न हुआ और गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी। तब सोमल वहाँसे जाता रहा। उस समय गजसुकुमारके असह्य दु.खके बारेमे भला क्या कहा जाये? परतु तब वे समभाव परिणाममें रहे। किंचित् क्रोध या द्वेष उनके हृदयमें उत्पन्न नही हुआ। अपनी आत्माको स्वरूपस्थित करके बोध दिया, "देख! यदि तूने इसकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्यादानमे तुझे पगड़ी देता। वह पगड़ी थोड़े समयमे फट जाती तथा परिणाममे दु.खदायक होती। यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ कि उस पगड़ीके बदले इसने मोक्षकी पगडी बँधवायी।" ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडिग रहकर समभावसे असह्य वेदना सहकर और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर वे अनंत जीवनसुखको प्राप्त हुए। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुन्दर परिणाम! तत्त्वज्ञानियोके वचन हैं कि आत्मा मात्र स्वसद्‌भावमें आनी चाहिए, और वह

उसमे आयी कि मोक्ष हथेलीमे ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसा विशुद्ध बोध देती है।

शिक्षापाठ ४४

राग

श्रमण भगवान् महावीरके अग्रेसर गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार पढा है। गौतमस्वामीके प्रबोधित कितने ही शिष्य केवलज्ञानको प्राप्त हुए, फिर भी गौतम स्वय केवलज्ञानको नही पाते थे, क्योकि भगवान् महावीरके अगोपांग, वर्ण, वाणी, रूप इत्यादि पर अभी गौतमको मोहनी थी। निग्रंथप्रवचनका निष्पक्ष न्याय ऐसा है कि चाहे जिस वस्तुका राग दु खदायक है। राग ही मोहनी और मोहनी ही ससार है। गौतमके हृदयसे यह राग जब तक दूर नही हुआ तब तक वे केवलज्ञानको प्राप्त नही हुए। फिर श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्र जब अनुपमेय सिद्धिको प्राप्त हुए, तब गौतम नगरसे आ रहे थे। भगवान्के निर्वाणका समाचार सुनकर उन्हे खेद हुआ। वे विरहसे अनुरागपूर्ण वचन बोले "हे महावीर! आपने मुझे साथ तो न लिया, परंतु मुझे याद तक भी न किया। मेरी प्रीतिकी ओर आपने दृष्टि भी नही की। ऐसा आपको छाजता न था।" ऐसे विचार-तरगोमें बहते बहते उनका लक्ष्य बदला और वे निरागश्रेणि पर चढ़ गये। "मैं बहुत मूर्खता करता हूँ। ये वीतराग निर्विकारी और निरागी भला मुझमे कैसे मोहनी रखें? इनकी शत्रु और मित्र पर सर्वथा समान दृष्टि थी। मै इन निरागीका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह ससारका प्रबल कारण है।" ऐसा विचार करते करते वे शोक छोड़कर निरागी हुए। इसलिए अनतज्ञान प्रकाशित हुआ और अन्तमे निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमे बहुत सूक्ष्म बोध देता है। भगवान्का मोह गौतम जैसे गणधरको दु.खदायक हुआ। तो फिर ससारका और वह भी पामर आत्माओका मोह कैसा अनन्त दु ख देता होगा! संसाररूपी गाड़ीके रागद्वेषरूप दो बैल हैं। यदि ये न हो तो ससारका रोध है। जहाँ राग नही वहाँ द्वेष नही, यह मान्य सिद्धान्त है। राग तीव्र कर्मबधका कारण है और इसके क्षयसे आत्मसिद्धि है।

●

शिक्षापाठ ४५

सामान्य मनोरथ

सवैया

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना नीरखुं नयने परनारी,
पथ्थरतुल्य गणुं परवैभव; निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी।
द्वादश व्रत अने दीनता धरी, सात्त्विक थाऊँ स्वरूप विचारी,
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी ॥१॥
ते त्रिशलातनये मन चिंतवी, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं,
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारु;
संशयबीज उगे नहीं अंदर, जे जिननां कथनो अवधारुं,
राज्य, सदा मुज ए ज मनोरथ, धार, थशे अपवर्गउतारु ॥२॥

सामान्य मनोरथ

भावार्थ—मोहनीभावके विचारोके अधीन होकर नयनोसे परनारीको नही देखूँ, लोभको निर्मल एव तात्त्विक बनाकर परवैभवको पत्थरतुल्य समझूँ। द्वादश व्रत और दीनता धारण कर स्वरूपका विचार करके सात्त्विक बनूँ। यह मेरा सदा शुभ क्षेमकारी और भवहारी नियम नित्य अखड रहे॥ १ ॥

उन त्रिशलातनयका मनमे चिन्तन करके ज्ञान, विवेक और विचारको वढाऊँ; नित्य नव तत्त्वोका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम वोधवचन मुखसे कहूँ। जिन भगवान्‌के जो कथन है उनका अवधारण करूँ ताकि मनमे संशयवीजका उदय न हो। राजचन्द्र कहते हैं मेरा सदा यही मनोरथ है, इसे धारण कर मोक्षपथिक वनूँ ॥ २॥

शिक्षापाठ ४६

कपिलमुनि--भाग १

कौशाम्बी नामकी एक नगरी थी। वहांके राजदरबारमे राज्यका आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीदेवी था। उसके पेटसे कपिल नामका एक पुत्र जन्मा था। जव वह पन्द्रह वर्षका हुआ तव उसके पिताका स्वर्गवास हो गया। कपिल लाड़प्यारमे पला होनेसे विशेप विद्वत्ताको प्राप्त नही हुआ था, इसलिए उसके पिताका स्थान किसी दूसरे विद्वान्‌को मिला। काश्यप शास्त्री जो पूँजी कमाकर गये थे, कमानेमे अशक्त कपिलने वह खाकर पूरी कर दी। एक दिन श्रीदेवी घरके दरवाजेमे खड़ी थी कि इतनेमे दो-चार नौकरोसहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीको प्राप्त विद्वान् जाता हुआ उसके देखनेमें आया। वहुत मानसे जाते हुए शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्व स्थितिका स्मरण हो आया, "जव मेरे पति इस पदवीपर थे तव मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख तो गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा पढा ही नही।" इस प्रकार विचारमे डोलते डोलते उसकी आंखोमेंसे टपाटप आँसू गिरने लगे। इतनेमे घूमता घूमता कपिल वहाँ आ पहुँचा। उसने श्रीदेवीको रोती हुई देखकर उसका

कारण पूछा। कपिलके वहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो था वह कह वताया। फिर कपिल वोला, "देख माँ! मैं वुद्धिशाली हूँ, परन्तु मेरी वुद्धिका उपयोग जैसा चाहिए वैसा नही हो सका। इसलिए विद्याके विना मैंने यह पदवी प्राप्त नही की। तू जहाँ कहे वहाँ जाकर अव मैं भरसक विद्या सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदसे कहा, "यह तुझसे नही हो सके, नही तो आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ती नगरीमे इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोको विद्यादान देता है, यदि तू वहाँ जा सके तो अभीष्ट सिद्धि हो सही," एक दो दिन रुक कर सज्ज होकर 'अस्तु' कह कर कपिलजीने रास्ता पकड़ा।

अवधि वीतनेपर कपिल श्रावस्तीमे शास्त्रीजीके घर आ पहुँचा। प्रणाम करके अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने मित्रपुत्रको विद्यादान देनेके लिए वहुत आनद प्रदर्शित किया। परतु कपिलके पास कोई पूँजी न थी कि जिसमे वह खाये और अभ्यास कर सके। इसलिए उसे नगरमे भिक्षा माँगनेके लिए जाना पड़ता था। माँगते माँगते दोपहर हो जाती थी, फिर रसोई वनाता और खाता कि इतनेमे संध्याका थोड़ा समय रहता था, इसलिए वह कुछ अभ्यास नही कर सकता था। पडितजीने उसका कारण पूछा तो कपिलने सब कह सुनाया। पडितजी उसे एक गृहस्थके पास ले गये और उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा व्राह्मणीके घर ऐसी व्यवस्था कर दी कि उसे हमेशा भोजन मिलता रहे, जिससे कपिलकी यह एक चिंता कम हुई।

०

शिक्षापाठ ४७

कपिलमुनि—भाग २

यह एक छोटी चिन्ता कम हुई, वहाँ दूसरी वडी झंझट खडी

हुई। भद्रिक कपिल अब जवान हो गया था, और जिसके यहाँ वह खाने जाता था वह स्त्री भी जवान थी। उसके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी नही था। दिन प्रति दिन पारस्परिक बात-चीतका सबंध बढा, बढ़कर हास्य-विनोदरूपमे परिणित हुआ, यों होते होते दोनो प्रेमपाशमे बंध गए। कपिल उससे लुभाया। एकात बहुत अनिष्ट वस्तु है !!

वह विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी ओरसे मिलने वाले सीधेसे दोनोका निर्वाह मुश्किल होता था, परतु कपड़े-लत्तेकी बाधाएँ हुईं। कपिलने गृहस्थाश्रम बसा लेने जैसा कर डाला चाहे जैसा होनेपर भी लघुकर्मी जीव होनेसे उसे ससारके प्रपचकी विशेष जानकारी भी नही थी। इसलिए वह बेचारा यह जानता भी न था कि पैसा कैसे पैदा करना। चचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि व्याकुल होनेसे कुछ नही होगा, परतु उपायसे सिद्धि है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है कि सवेरे पहले जा कर जो ब्राह्मण आशीर्वाद दे उसे वह दो माशा सोना देता है। वहाँ यदि जा सके और प्रथम आशीर्वाद दे सके तो वह दो माशा सोना मिले। कपिलने यह बात मान ली। आठ दिन तक धक्के खाये परतु समय बीत जानेपर पहुँचनेसे कुछ हाथ न आये। इस लिए उसने एक दिन निश्चय किया कि यदि मैं चौकमे सोऊ तो सावधानी रखकर उठा जायगा। फिर वह चौकमे सोया। आधी रात बीतनेपर चद्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप समझकर मुट्ठियाँ बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिए दौड़ते हुए जाने लगा। रक्षपालने चोर जानकर पकड लिया। लेनेके देने पड गये। प्रभात हुआ, इसलिए रक्षपालने उसे ले जा कर राजाके समक्ष खड़ा किया। कपिल बेसुध-सा खड़ा रहा, राजाको उसमे चोरके लक्षण दिखाई नही दिये। इसलिए उससे सारा वृत्तात पूछा। चद्रके प्रकाशको सूर्यके समान माननेवालेकी भद्रिकतापर राजाको दया

आयो। उसकी दरिद्रता दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई, इसलिए कपिलसे कहा, "मुझे आशीर्वाद देनेके लिए यदि इतनी झझट खड़ी हो गई है तो अब तू यथेष्ट माँग ले, मै तुझे दूँगा।" कपिल थोडी देर मूढ जैसा रहा। इससे राजाने कहा, "क्यो विप्र! कुछ माँगते नही"? कपिलने उत्तर दिया, "मेरा मन अभी स्थिर नही हुआ, इसलिए क्या माँगूँ यह नही सूझता।" राजाने सामनेके बागमे जाकर वहाँ स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको माँगनेके लिए कहा। इसलिए कपिल उस बागमे जाकर विचार करने बैठा।

शिक्षापाठ ४८

कपिलमुनि—भाग ३

जिसकी दो माशा सोना लेनेकी इच्छा थी, वह कपिल अब तृष्णातरंगमे बह गया। पांच मुहरे माँगनेकी इच्छा की तो वहाँ विचार आया कि पांचसे कुछ पूरा होनेवाला नही। इसलिए पच्चीस मुहरें माँगनी। यह विचार भी बदला। पच्चीस मुहरोंसे कही सारा वर्ष नही निकले, इसलिए सौ मुहरें माँगनी। वहाँ फिर विचार बदला। सौ मुहरोसे दो वर्ष कट जाएँ, वैभव भोगकर फिर दुखका दुख, इसलिए एक हजार मुहरोंकी याचना करना ठीक है। परन्तु एक हजार मुहरोसे, बाल-बच्चोके दो चार खर्च आ जाये, या ऐसा कुछ हो तो पूरा भी क्या हो? इसलिए दस हजार मुहरे माँगनी कि जिससे जीवनपर्यंत भी चिन्ता न रहे। फिर इच्छा बदली। दस हजार मुहरें खाई जायें तो फिर पूँजीहीन होकर रहना पड़े। इसलिए एक लाख मुहरोकी माँग करूँ कि जिसके ब्याजमे सारा वैभव भोगूँ; परन्तु जीव! लक्षा-

धिपति तो वहुतसे हैं, इनमे मै प्रसिद्ध कहाँसे हो पाऊँगा ? इसलिए करोड मुहरे माँगनी कि जिससे मै महान् श्रीमान् कहा जाऊँ। फिर रग वदला। महती श्रीमत्तासे भी घरमे सत्ता न कहलाये। इसलिए राजाका आधा राज्य माँगना। परतु यदि आधा राज्य माँगूँगा तो भी राजा मेरे तुल्य गिना जायगा और फिर मैं याचक माना जाऊँगा। इसलिए माँगना तो पूरा राज्य ही माँगना। इस तरह वह तृष्णामे डूबा; परतु वह था तुच्छ ससारी, इसलिए फिरसे पीछे लौटा। "भले जीव! अपनेको ऐसी कृतघ्नता किस लिए करनी पडे कि जो अपनेको इच्छानुसार देनेको तत्पर हुआ उसीका राज्य ले लेना और उसको भ्रष्ट करना? यथार्थ दृष्टिसे तो इसमे अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिए आधा राज्य माँगना, परन्तु यह उपाधि भी मुझे नही चाहिए। तव पैसेकी उपाधि भी कहाँ कम है? इसलिए करोड लाख छोडकर सौ दो सौ मुहरें ही माँग लेनी। जीव! सौ दो सौ मुहरे अभी मिलेंगी तो फिर विषय-वैभवमें वक्त चला जायगा; और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा, इसलिए अभी तो पाँच मुहरे ही ले जानी, पीछेकी वात पीछे। अरे! पाँच मुहरोकी भी अभी कुछ जरूरत नही है, मात्र दो माशा सोना लेने आया था वही माँग लेना। जीव! यह तो बेहद हुआ। तृष्णासमुद्रमे तूने बहुत गोते खाये। सपूर्ण राज्य माँगते हुए भी जो तृष्णा नही बुझती थी, मात्र सतोप एव विवेकसे उसे घटाया तो घट गई। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता तो फिर मै इससे विशेष क्या माँग सकता था! और जव तक विशेप न मिलता तब तक मेरी तृष्णा शात भी न होती, जव तक तृष्णा शात न होती तब तक मैं सुखी भी न होता। इतनेसे भी मेरी तृष्णा दूर न हो तो फिर दो माशेसे कहाँसे दूर हो? उसकी आत्मा सुलटे भावमे आई और वह बोला, "अब मुझे दो माशे सोनेका कुछ काम नही, दो माशेसे वढकर मैं किस हद तक पहुँचा! सुख तो सतोषमे ही है। यह तृष्णा संसारवृक्षका

बीज है। इसकी हे जीव ! तुझे क्या आवश्यकता है? विद्या ग्रहण करते हुए तू विषयमे पड गया, विषयमे पडनेसे इस उपाधिमें पडा; उपाधिके कारण तू अनत तृष्णासमुद्रकी तरगोमे पड़ा। इस प्रकार एक उपाधिसे इस ससारमे यो अनत उपाधियाँ सहनी पडती है। इसलिए इसका त्याग करना उचित है। सत्य सतोष जैसा निरुपाधि सुख एक भी नही है।" यो विचार करते करते तृष्णाको शात करनेसे उस कपिलके अनेक आवरणोका क्षय हो गया। उसका अत करण प्रफुल्लित और वहुत विवेकशील हो गया। विवेक ही विवेकमें उत्तम ज्ञानसे वह स्वात्माका विचार कर सका। अपूर्व श्रेणिपर चढ कर केवलज्ञानको प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

तृष्णा कैसी निकृष्ट वस्तु है। ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तृष्णा आकाश जैसी अनत है। निरतर वह नवयौवना रहती है। कुछ चाह जितना मिला कि वह चाहको वढा देती है। सतोष ही कल्प-वृक्ष है और यही मात्र मनोवाछाको पूर्ण करता है।

●

शिक्षापाठ ४९

तृष्णानी विचित्रता

मनहर छंद

(एक गरीवनी वधती गयेली तृष्णा)

हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने,
मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने,
आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने;
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने,

दीठी देवताई त्यारे ताको शंकराईने;
अहो ! राजचंद्र मानो मानो शंकराई मळी,
वधे तृष्णाई तोय जाय न मराईने ॥ १ ॥
करोचली पडी दाढी डाचां तणो दाट वळ्यो,
काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई;
सूंघवुं सांभळवुं, ने देखवुं ते मांडी वाळ्युं,
तेम दांत आवली ते, खरी के खवाई गई ।
वळी केड वांकी, हाड गयां, अंगरंग गयो,
ऊठवानी आय जतां लाकडी लेवाई गई;
अरे ! राजचंद्र एम, युवानी हराई पण,
मनथी न तोय रांड ममता मराई गई ॥ २ ॥

तृष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढती हुई तृष्णा)

भावार्थ—जब गरीब था तब मुखिया होनेकी इच्छा हुई, जब मुखिया हो गया तब नगरसेठ होनेकी इच्छा हुई, जब नगरसेठ हुआ तब मत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मत्री हुआ तब राजा होनेकी इच्छा हुई, जब राजा हुआ तब देव होनेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तब शकर—महादेव होनेकी इच्छा हुई। राजचद्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि यदि वह शकर हो जाये तो भी उसकी तृष्णा बढती ही रहे, मरे नही, इसे निश्चित माने ॥ १ ॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गई, गाल पिचक गये, चेहरा पीला हो गया, काली केशपट्टियाँ सफेद हो गई, सूंघने, सुनने और देखनेकी शक्ति जाती रही, दाँत गिर गये या सड गये, कमर टेढी हो गई, हड्डियाँ कमजोर हो गयी, शरीरकी शोभा जाती रही, उठने-बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलते-फिरनेमे लकडी लेनी पडी। राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि इस तरह जवानी तो चली गई, परन्तु फिर भी मनसे यह राड ममता नही मरी ॥ २ ॥

करोडोना करजना शिर पर डंका वागे,
रोगथी रुंधाई गयुं, शरीर सुकाईने;
पुरपति पण माथे, पीडवाने ताकी रह्यो,
पेट तणी वेठ पण, शके न पुराईने।

पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धंध,
पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दुःखदाईने;
अरे! राजचंद्र तोय जीव झावा दावा करे,
जंजाळ छंडाय नहीं, तजी तृषनाईने ॥ ३ ॥

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी,
जीवन दीपक पाम्यो केवळ झंखाईने;
छेल्ली ईसे पड्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं,
हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।

हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुढ्ढे सूचव्युं ए,
बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने!
अरे! राजचंद्र देखो देखो आशापाश केवो?
जतां गई नही डोशे ममता मराईने ॥ ४ ॥

करोड़ोंके कर्जका सिरपर डका वज रहा है, शरीर सूखकर रोगोका घर हो गया है, राजा भी पीड़ा देनेके लिए मौका तक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे भरा नही जा सकता, माता-पिता और स्त्री अनेक उपद्रव मचाते हैं, पुत्र-पुत्री दु खदायीको खानेको दौड़ते हैं। राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि तो भी यह जीव मिथ्या प्रयत्न करता रहता है परन्तु इ ससे तृष्णाको छोड़कर जजाल नही छोड़ा जाता ॥ ३ ॥

नाडी क्षीण हो गई है, अवाचककी भाँति पडा हुआ है, जीवन का दीया बुझनेको है, इस अतिम अवस्थामे पड़ा देखकर भाईने यो

कहा कि अब मिट्टी ठडी हो जाय तो ठीक है न ? इतनेमे उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा—"रे मूर्ख ! चुप रह, अपनी चतुराईको चूल्हेमे डाल। राजचन्द्र कहते हैं कि यह आश्चर्य है कि देखिये, देखिये, आगापाश कैसा है ! मरते-मरते भी बुड्ढेकी ममता नही मरी ॥ ४ ॥

शिक्षापाठ ५०

प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय यह सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवान्ने उत्तराध्ययनसूत्रमे गौतमसे कहा—"हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी अनीपर पडे हुए जलके बिंदु जैसी है। जैसे उस बिंदुके गिरनेमे देर नही लगती, वैसे इस मनुष्यकी आयुके बीत जानेमें देर नही लगती।" इस बोधके काव्यमे चौथी कडी स्मरणमे अवश्य रखने योग्य है। **'समयं गोयम मा पमायए।'** इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि हे गौतम ! समय अर्थात् अवसर पाकर प्रमाद नही करना, और दूसरा यह कि निमेषोन्मेषमे बीतते हुए कालका असख्यातवाँ भाग जो समय कहलाता है उतने वक्तका भी प्रमाद नही करना। क्योकि देह क्षणभगुर है। काल-शिकारी सिरपर धनुषबाण चढाकर खडा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा यह दुविधा हो रही है। वहाँ प्रमादसे धर्म-कर्तव्यका करना रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुष ससारकी सर्वोपाधिका त्याग करके अहो-

रात्र धर्ममे सावधान रहते हैं। पलका भी प्रमाद नही करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोडे भागको भी निरंतर धर्मकर्तव्यमे विताते हैं और अवसर अवसरपर धर्मकर्तव्य करते रहते है। परतु मूढ पुरुष निद्रा, आहार, मौज-शौक और विकथा एव रागरगमे आयु व्यतीत करते हैं। जिसके परिणाममे वे अधोगति प्राप्त करते हैं।

यथासंभव यतना और उपयोगसे धर्मको सिद्ध करना योग्य है। साठ घड़ीके अहोरात्रमे वीस घडी तो हम निद्रामे विता देते है। वाकीकी चालीस घडी उपाधि, गपशप और वेकार घूमने-फिरनेमे गुजार देते हैं। इसकी अपेक्षा साठ घडीके समयमेसे दो चार घडी विशुद्ध धर्मकर्तव्यके लिए उपयोगमे लें तो यह आसानीसे हो सकता है। इसका परिणाम भी कैसा सुन्दर हो।

पल एक अमूल्य वस्तु है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पानेके लिए अपनी सारी ऋद्धि दे दे तो भी वह उसे पा नही सकता। एक पल व्यर्थ खोना एक भव हार जानेके समान है, यह तत्त्वकी दृष्टिसे सिद्ध है।

•

शिक्षापाठ ५१

विवेक किसे कहते हैं ?

लघु शिष्य—भगवन्! आप हमे स्थान-स्थानपर कहते आये है कि विवेक महान् श्रेयस्कर है। विवेक अधकारमे पड़ी हुई आत्माको पहचाननेका दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नही वहाँ धर्म नही, तो विवेक किसे कहते हैं ? यह हमे कहिये।

गुरु—आयुष्मानो! सत्यासत्यको अपने-अपने स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तब महाराज ! वे धर्मके मूलको पा गये ऐसा कहा जाय ?

गुरु—तुम जो बात कहते हो उसका एक दृष्टात तो दो सही।

लघु शिष्य—हम स्वय कड़वेको कडवा ही कहते हैं और मधुर-को मधुर कहते हैं। जहरको जहर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मन् ! ये सब द्रव्य पदार्थ हैं। परतु आत्मामें कौनसी कटुता और कौनसी मधुरता, कौनसा विप और कौनसा अमृत है। इन भावपदार्थोंकी इससे क्या परीक्षा हो सके ?

लघु शिष्य—भगवन् ! इस ओर तो हमारा लक्ष भी नही है।

गुरु—तब यही समझनेका है कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्य भावपदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूप असत् वस्तुने घेर लिया है। इसमे इतनी अधिक मिश्रता आ गई है कि परीक्षा करना अति अति दुष्कर है। आत्माने ससारके सुख अनत बार भोगे फिर भी उसका मोह अब भी दूर नही हुआ और उसे अमृत जैसा माना यह अवि-वेक है। क्योकि ससार कडवा है, कडवे विपाकको देता है। इसी प्रकार वैराग्य जो इस कडवे विपाककी औषध है, उसे कड़वा माना; यह भी अविवेक है। ज्ञान, दर्शन आदि गुणोको अज्ञान और अदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है उसे पहचान कर भाव अमृतमे आना, इसका नाम विवेक है। अब कहो तो कि विवेक यह कैसी वस्तु ठहरी ?

लघु शिष्य—अहो ! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मरक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्मस्वरूपको विवेकके विना नही पहचाना जा सके, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप ये सब विवेकके विना उदयको प्राप्त नही होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नही है वह अज्ञानी और मन्द है।

वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमे लिपटा रहता है। आपकी विवेकसबधी शिक्षाका हम निरतर मनन करेंगे।

शिक्षापाठ ५२

ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश किस लिए दिया ?

ससारके स्वरूपके सबधमे पहले कुछ कहा गया है वह तुम्हारे ध्यानमे होगा।

ज्ञानियोने इसे अनत खेदमय, अनंत दु खमय अव्यवस्थित चलविचल और अनित्य कहा है। ये विशेषण लगानेसे पहले उन्होने ससारसबधी संपूर्ण विचार किया, ऐसा मालूम होता है। अनत भवोका पर्यटन, अनंत कालका अज्ञान, अनत जीवनका व्याघात, अनत मरण और अनत शोकके कारण आत्मा ससारचक्रमे भ्रमण किया करता है। ससारकी दीखती हुई इद्रवारुणी जैसी सुन्दर मोहनीने आत्माको एकदम तल्लीन कर डाला है। इस जैसा सुख आत्माको कही भी भासित नही होता। मोहनीसे सत्य सुख और उसके स्वरूपको देखनेकी इसने आकाक्षा भी नही की है। पतगकी जैसे दीपकके प्रति मोहनी है वैसे आत्माकी ससारके प्रति मोहनी है। ज्ञानी इस ससार-को क्षणभरके लिए भी सुखरूप नही कहते। इस ससारकी तिलभर जगह भी जहरके विना नही रही हैं। एक सूअरसे लेकर एक चक्र-वर्ती तक भावकी अपेक्षासे समानता है। अर्थात् चक्रवर्तीकी ससारमे जितनी मोहनी है उतनी ही वल्कि उससे अधिक मोहनी सूअरकी है। चक्रवर्ती जैसे समग्र प्रजापर अधिकार भोगता है वैसे उसकी उपाधि भी भोगता है। सूअरको इसमेसे कुछ भी भोगना नही पडता। अधिकारकी अपेक्षा उलटे उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीका

अपनी पत्नीसे जितना प्रेम होता है उतना हो बल्कि उससे विशेष सूअरका अपनी सूअरनीसे प्रेम रहता है। चक्रवर्ती भोगमे जितना रस लेता है उतना ही रस सूअर भी मान बैठा है। चक्रवर्तीकी जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि है। सूअरको उसके वैभवके अनुसार उपाधि है। दोनो उत्पन्न हुए हैं और दोनो मरनेवाले हैं। इस प्रकार अति सूक्ष्म विचार करनेपर क्षणिकता, रोग और जरासे दोनो ग्रसित हैं। द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महा पुण्यशाली है, सातावेदनीय भोगता है, और सूअर बेचारा असातावेदनीय भोग रहा है। दोनोको असाता-साता भी है, परन्तु चक्रवर्ती महा समर्थ है। परतु यदि वह जीवनपर्यंन मोहाध रहता है तो मारी बाजी हार जाने जैसा करता है। सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्ती श्लाकापुरुप है इसलिए सूअरसे इस रूपमे इसकी तुलना ही नही है, परन्तु इस स्वरूपमे है। भाग भोगनेमे दोनो तुच्छ है, दोनोके शरीर मास, मज्जा आदिके हैं। संसारकी यह उत्तमोत्तम पदवी ऐसी है, उसमे ऐसा दु ख, क्षणिकता, तुच्छता और अधता रहे हैं तो फिर अन्यत्र सुख किस लिए मानना चाहिए? यह सुख नही है, फिर भी सुख मानो तो जो सुख भयवाले और क्षणिक हैं वे दु.ख ही हैं। अनत ताप, अनत शोक, अनत दु ख देखकर ज्ञानियोने इस ससारको पीठ दी है, यह सत्य है। इस ओर पीछे मुडकर देखने जैसा नही है, वहाँ दु ख ही दु ख है। दु खका यह समुद्र है।

वैराग्य ही अनत सुखमे ले जानेवाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

शिक्षापाठ ५३

महावीरशासन

अभी जो शासन प्रवर्तमान है वह श्रमण भगवान् महावीरका

प्रणीत किया हुआ है।[1] भगवान् महावीरको निर्वाण पधारे २४१४ वर्ष हो गये। मगध देशके क्षत्रियकुण्ड नगरमे त्रिशला देवी क्षत्रियाणीकी कोखसे सिद्धार्थ राजासे भगवान् महावीर जन्मे थे। महावीर भगवान्के वड़े भाईका नाम नन्दिवर्धन था। महावीर भगवान्की स्त्रीका नाम यशोदा था। ये तीस वर्ष गृहस्थाश्रममे रहे। एकातिक विहारमे साढे वारह वर्ष एक पक्ष तपादिक सम्यक् आचारसे इन्होने अशेष घनघाती कर्मोको जलाकर भस्मीभूत किया, और अनुपमेय केवलज्ञान तथा केवलदर्शन ऋजुवालिका नदीके किनारे प्राप्त किया। कुल लगभग ७२ वर्षकी आयु भोगकर सब कर्मोको भस्मीभूत करके सिद्धस्वरूपको प्राप्त किया। वर्तमान चौवीसीके ये अतिम जिनेश्वर थे।

इनका यह धर्मतीर्थ प्रवर्तमान है। यह २१००० वर्ष अर्थात् पचम कालकी पूर्णता तक चलेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमे प्रवचन है।

यह काल दस अपवादोसे युक्त होनेसे इस धर्मतीर्थपर अनेक विपत्तियाँ आ गयी हैं, आती हैं और प्रवचनके अनुसार आयेगी भी सही।

जैन समुदायमे परस्पर मतभेद बहुत पड गये हैं। परस्पर निंदाग्रथोसे जजाल माँड़ बैठे है। मध्यस्थ पुरुष विवेक-विचारसे मतमतांतरमे न पडते हुए जैनशिक्षाके मूल तत्त्व पर आते हैं, उत्तम शीलवान् मुनियोकी भक्ति करते हैं, और सत्य एकाग्रतासे अपनी आत्माका दमन करते हैं।

समय समयपर कुछ सामान्य प्रकाशमे आता है, परन्तु काल प्रभावके कारण वह यथेष्ट प्रफुल्लित नही हो पाता।

---

१ मोक्षमालाकी प्रथमावृत्ति वीर सवत् २४१४ अर्थात विक्रम सवत् १९४४ में छपी थी।

'वक जडा य पच्छिमा' ऐसा उत्तराध्ययनसूत्रमे वचन है। इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र एव जड होगे और इस कथनकी सत्यताके विषयमे किसीको कुछ बोलने जैसा नही रहता। हम कहाँ तत्त्वविचार करते हैं? कहाँ उत्तम शीलका विचार करते हैं? धर्ममे नियमित समय कहाँ व्यतीत करते है? धर्मतीर्थके उदयके लिए कहाँ ध्यान रखते हैं? कहाँ लगनसे धर्मतत्त्वकी खोज करते हैं? श्रावक कुलमे जन्मे इसलिए श्रावक, यह बात हमे भावकी दृष्टिसे मान्य नही करनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक आचार, ज्ञान, खोज अथवा इनमेंसे कोई विशेष लक्षण जिसमे हो उसे श्रावक मानें तो वह यथायोग्य है। कितने प्रकारकी द्रव्यादिक सामान्य दया श्रावकके घर जन्म लेती है और वह उसका पालन भी करता है, यह बात प्रशसा करने योग्य है। परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा अधिक शका करनेवाले अर्धदग्ध भी हैं, जानकर अहकार करनेवाले भी है, परन्तु जानकर तत्त्वके काँटेमे तोलनेवाले विरले ही है। 'परपर आम्नायसे केवल, मन पर्यय और परमावधिज्ञान'का विच्छेद हो गया। दृष्टिवादका विच्छेद हो गया। सिद्धातके बहुतसे भागका विच्छेद हो गया, मात्र थोडे रहे हुए भागपर सामान्य समझसे शंका करना योग्य नही है। जो शका हो उसे विशेष जानकारसे पूछना। वहाँसे मनमाना उत्तर न मिले तो भी जिन-वचनकी श्रद्धा चलविचल नही करना। अनेकांत शैलीके स्वरूपको विरले जानते हैं।

भगवान्‌के कथनरूप मणिके घरमे कितने पामर प्राणी दोषरूपी छिद्रको खोजनेका मथन करके अधोगतिजनक कर्म बाँधते हैं। हरी शाकभाजीको सुखा लेनकी बात किसने और किस विचारसे ढूँढ निकाली होगी?

यह विषय बहुत बड़ा है। इस संबंधमे यहाँ कुछ कहना योग्य नहीं है। संक्षेपमें कहना यह है कि हम अपनी आत्माको सार्थक

करनेके लिए मतभेदमे न पड़ें। उत्तम और शात मुनिका समागम, विमल आचार, विवेक, दया, क्षमाका सेवन करें। हो सके तो महावीर तीर्थके लिए विवेकी बोध कारण सहित दें। तुच्छ वुद्धिसे शंकित नही होना, इसमे अपना परम मगल है, इसका विसर्जन नही करना।

o

शिक्षापाठ ५४

अशुचि किसे कहना ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोके आचारकी बात बहुत अच्छी लगी है। इन जैसा किसी दर्शनके सतोका आचार नही है। चाहे जैसे जाडेकी ठडमे इन्हे अमुक वस्त्रोसे निभाना पडता है, गरमीमे चाहे जैसा ताप पडनेपर भी ये पैरमे जूटे अथवा सिरपर छत्री नही रखते। इन्हे गरम रेतमें आतप लेना पडता है। यावज्जीवन गरम पानी पीते है। ये गृहस्थके घर बैंठ नही सकते। ये शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते है। ये फूटी कौड़ी भी पासमे नही रख सकते। ये अयोग्य वचन नही बोल सकते। ये वाहन नही ले सकते। ऐसे पवित्र आचार सचमुच मोक्षदायक है। परतु नव वाडमे भगवान्‌ने स्नान करनेका निषेध किया है यह बात तो मुझे यथार्थ नही जचती।

सत्य—किस लिए नही जचती ?

जिज्ञासु—क्योकि इससे अशुचि वढ़ती है।

सत्य—कौनसी अशुचि बढती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है।

सत्य—भाई! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नही है। शरीर स्वय किसका बना है, यह तो विचार करो। रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका यह भंडार है। इस

पर मात्र त्वचा है, फिर यह पवित्र कैसे हो ? और फिर साधुओने ऐसा कोई ससारी कर्तव्य नही किया होता कि जिससे उन्हे स्नान करनेकी आवश्यकता रहे।

जिज्ञासु—परतु स्नान करनेसे उन्हे क्या हानि है ?

सत्य—यह तो स्थूल वुद्धिका ही प्रश्न है। नहानसे असंख्यात जन्तुओका विनाश, कामाग्निकी प्रदीप्तता, व्रतका भग, परिणाम-का वदलना यह सारी अशुचि उत्पन्न होती है और इससे आत्मा महा मलिन होती है। प्रथम इसका विचार करना चाहिए। शरीरकी जीवहिंसायुक्त जो मलिनता है वह अशुचि है। अन्य मलिनतासे तो आत्माकी उज्ज्वलता होती है, इसे तत्त्वविचारसे समझना है। नहानेसे व्रत भग होकर आत्मा मलिन होती है, और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—मुझे आपने वहुत सुन्दर कारण वताया। सूक्ष्म विचार करनेसे जिनेश्वरके कथनसे वोध और अत्यानंद प्राप्त होता है। अच्छा, गृहस्थाश्रमियोको जीवहिंसा या ससार-कर्तव्यसे हुई शरीरकी अशुचि दूर करनी चाहिए कि नही ?

सत्य—समझपूर्वक अशुचि दूर करनी ही चाहिए। जैन जैसा एक भी पवित्र दर्शन नही है, और वह अपवित्रताका वोध नही करता। परन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझना चाहिए।

●

शिक्षापाठ ९९

सामान्य नित्यनियम

प्रभातसे पहले जागृत होकर नमस्कार मत्रका स्मरण करके मन विशुद्ध करना। पापव्यापारकी वृत्तिको रोककर रात्रिसवधी हुए दोपोका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना।

प्रतिक्रमण करनेके बाद यथावसर भगवान्‌की उपासना, स्तुति तथा स्वाध्यायसे मनको उज्ज्वल करना।

माता-पिताकी विनय करके इस तरह यतनासे संसारी काममे प्रवृत्ति करना कि आत्महितका लक्ष न भूला जाये।

स्वय भोजन करनेसे पहले सत्पात्रमे दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करना।

आहार-विहारका नियमित समय रखना, तथा सत् शास्त्रके अभ्यासका और तात्त्विक ग्रथके मननका नियमित समय रखना।

सायंकालमें उपयोगपूर्वक सध्यावश्यक करना।

चौविहार प्रत्याख्यान करना।

नियमित निद्रा लेना।

सोनेसे पहले अठारह पापस्थान, द्वादशव्रतदोष और सर्व जीवोसे क्षमा माँगकर, पचपरमेष्ठी मन्त्रका स्मरण करके महा शातिसे समाधि भावसे शयन करना।

ये सामान्य नियम बहुत लाभदायक होगे। ये तुम्हे सक्षेपमे कहे हैं। सूक्ष्म विचारसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे ये विशेष मगलदायक होगे।

●

शिक्षापाठ ५६

क्षमापना

हे भगवन् ! मैं बहुत भूल गया, मैने आपके अमूल्य वचनोको ध्यानमें नही लिया। आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वोंका मैने विचार नही किया। आपके प्रणीत किये हुए उत्तम शीलका सेवन नही

किया। आपकी कही हुई दया, शाति, क्षमा और पवित्रताको मैने नही पहचाना। हे भगवन्! मै भूला, भटका, घूमा-फिरा और अनत ससारकी विडबनामे पड़ा हूँ। मै पापी हूँ। मै बहुत मदोन्मत्त और कर्मरजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोके बिना मेरा मोक्ष नही। मै निरतर प्रपचमे पडा हूँ। अज्ञानसे अध हुआ हूँ, मुझमे विवेकशक्ति नही और मै मूढ हूँ, मै निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ। निरागी परमात्मन्! मै अब आपकी, आपके धर्मकी और आपके मुनियोकी शरण लेता हूँ। मेरे अपराधोका क्षय हो, मै सब पापोसे मुक्त होऊँ यह मेरी अभिलाषा है। पहले किये हुए पापोका मै अब पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यो-ज्यो मै सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता हूँ त्यो-त्यो आपके तत्त्वोके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप निरागी, निर्विकार सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानदी, अनतज्ञानी, अनतदर्शी और त्रैलोक्य प्रकाशक हैं। मै मात्र अपने हितके लिए आपकी साक्षीमे क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वोकी शका न हो, आपके बताये हुए मार्गमे अहोरात्र रहूँ, यही मेरी आकाक्षा और वृत्ति हो। हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नही। मात्र पश्चात्तापसे मैं कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शाति शाति शाति।

शिक्षापाठ ५७

वैराग्य धर्मका स्वरूप है

एक वस्त्र खूनसे रगा गया। उसे यदि खूनसे धोयें तो वह धोया नही जा सकता, परतु अधिक रगा जाता है। यदि पानीसे उस वस्त्रको धोयें तो वह मलिनता दूर हो सकती है। इस दृष्टातसे आत्मा-

का विचार करे। आत्मा अनादिकालसे संसाररूप खूनमे मलिन हुई है। यह मलिनता रोम-रोममे व्याप्त हो गई है। इस मलिनताको हम विषयश्रृगारसे दूर करना चाहे तो दूर नही हो सकती। खूनसे जैसे खून नही धोया जाता वैसे श्रृगारसे विषयजन्य आत्ममलिनता दूर होनेवाली नही है यह मानो निश्चय ही है। अनेक धर्ममत इस जगतमे प्रचलित है, उस सबंधमे अपक्षपातसे विचार करते हुए पहले इतना विचार करना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियाँ भोगनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी हो, रग, राग, मौज-शौक और ऐश व आराम करनेका तत्त्व बताया हो वहाँसे अपनी आत्माको सत्-शाति नही है। कारण कि इसे धर्ममत माना जाये तो ससार धर्ममतयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर होता है। वाल-बच्चे, स्त्री, राग-रग, गान-तान वहाँ जमा रहता है और उस घरको धर्म-मदिर कहना तो फिर अधर्म-स्थान कौन-सा? और फिर जैसे हम वरताव करते है वैसे वरताव करनेसे वुरा भी क्या? यदि कोई यों कहे कि उस धर्म-मदिरमे तो प्रभुका भक्ति हो सकती है तो उनके लिए खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वे परमात्मतत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको जानते नही है। चाहे जो हो परन्तु हमे अपने मूल विचारपर आना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा ससारमे विषयादिक मलिनतासे पर्यटन करती है। उस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावजलसे होना चाहिए। अर्हतके कहे हुए तत्त्वरूपी साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर रखकर आत्मवस्त्रको धोनेवाला निर्ग्रंथ गुरु है। इसमे यदि वैराग्यजल न हो तो सभी साधन कुछ नही कर सकते। इसलिए वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। यदि अर्हत-प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही बोध देते है तो वही धर्मका स्वरूप है ऐसा समझना।

शिक्षापाठ ५८

धर्मके मतभेद—भाग १

इस जगतीतलपर अनेक प्रकारसे धर्मके मत हो गये हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं, यह न्याय सिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ-कुछ रूपान्तर पाते रहते हैं। इस सम्बन्धमे कुछ विचार कर।

कितने मतभेद परस्पर मिलते हुए और कितने परस्पर विरुद्ध हैं। कितने ही मतभेद केवल नास्तिको द्वारा फैलाये हुए भी हैं। कितने सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं। कितने ज्ञानको ही धर्म कहते हैं। कितने अज्ञानको धर्ममत कहते हैं। कितने भक्तिको कहते हैं, कितने क्रियाको कहते हैं, कितने विनयको कहते हैं और कितने शरीरकी रक्षा करना इसे धर्ममत कहते हैं।

इस धर्मस्थापकोने ऐसा उपदेश किया मालूम होता है कि हम जो कहते हैं वह सर्वज्ञवाणीरूप और सत्य है, बाकीके सभी मत असत्य और कुतर्कवादी हैं, इसलिए उन मतवादियोने परस्पर योग्य कि अयोग्य खंडन किया है। वेदान्तके उपदेशक यही उपदेश देते हैं, साख्यका भी यही उपदेश है, बुद्धका भी यही उपदेश है; न्यायमतवालोका भी यही उपदेश है, शक्तिपथीका यही उपदेश है; वैष्णवादिकका यही उपदेश है, इस्लामका यही उपदेश है, और क्राइस्टका यही उपदेश है कि यह हमारा कथन आपको सर्वसिद्धि देगा। तव हमे अब क्या विचार करना ?

वादी प्रतिवादी दोनो सच्चे नही होते और दोनो झूठे भी नही होते। वहुत हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ कम झूठा होता है।[1] दोनोकी वात सर्वथा झूठी नही होनी चाहिए।

---

१ अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा और वादी कुछ कम झूठा होता हैं।

ऐसा विचार करते हुए तो एक धर्ममत सच्चा ठहरे, बाकीके झूठ ठहरे।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य और सबको सत्य कैसे कहा जा सके ? यदि सबको असत्य कहे तो हम नास्तिक ठहरे और धर्मकी सचाई जाती रहे। यह तो निश्चय है कि धर्मकी सचाई है, और सृष्टिपर उसकी आवश्यकता है। एक धर्ममत सत्य और बाकीके सब असत्य ऐसा कहे तो इस बातको सिद्ध करके बतलाना चाहिए। सबको सत्य कहे तो यह रेतकी दीवार बनाई; क्योंकि फिर इतने सारे मतभेद किस लिए हो गये ? सब एक ही प्रकारके मत स्थापित करनेका यत्न किस लिए न करें ? इस तरह अन्योन्य विरोधाभासके विचारसे थोडी देर रुकना पडता है।

तो भी सत्संबधी यथामति मै कुछ स्पष्टता करता हूँ। यह स्पष्टता सत्य और मध्यस्थ-भावनाकी है, एकांतिक या मताग्रही नही, पक्षपाती या अविवेकी नही, परन्तु उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमे यह सामान्य लगेगी, परन्तु सूक्ष्म विचारसे बहुत मर्मवाली लगेगी।

शिक्षापाठ ५९

धर्मके मतभेद—भाग २

इतना तो तुम स्पष्ट मानो कि चाहे जो एक धर्म इस सृष्टि-पर संपूर्ण सत्यता रखता है। अब एक दर्शनको सत्य कहते हुए बाकीके धर्ममतोको सर्वथा असत्य कहना पडे, परन्तु मै ऐसा नही कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो वे असत्यरूप

सिद्ध होते है, परन्तु व्यवहारनयसे वे असत्य नही कहे जा सकते। एक सत्य और बाकीके अपूर्ण और सदोष है ऐसा मै कहता हूँ। तथा कितने ही कुतर्कवादी और नास्तिक है वे सर्वथा असत्य है; परन्तु जो परलोकसबधी या पापसबधी कुछ भी बोध या भय बताते हैं उस प्रकारके धर्ममतोको अपूर्ण और सदोष कहा जा सकता है। एक दर्शन जिसे निर्दोष और पूर्ण कहनेका है उसकी बात अभी एक ओर रखें।

अब तुम्हे शका होगी कि सदोष और अपूर्ण कथनका उपदेश उसके प्रवर्तकने किस लिए दिया होगा? उसका समाधान होना चाहिए। उन धर्ममतवालोकी जहाँ तक बुद्धिकी गति पहुँची वहाँ तक उन्होने विचार किया। अनुमान, तर्क और उपमा आदिके आधारसे उन्हे जो कथन सिद्ध प्रतीत हुआ वह प्रत्यक्षरूपसे मानो सिद्ध है ऐसा उन्होने बताया। जो पक्ष लिया उसमे मुख्य एकातिकवाद लिया। भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान या क्रिया इनमेसे एक विषयका विशेष वर्णन किया, इससे दूसरे मानने योग्य विषयोको उन्होंने दूषित कर दिया। फिर जिन विषयोका उन्होने वर्णन किया उन्हे सर्व भावभेदसे उन्होने कुछ जाना नही था; परन्तु अपनी महा बुद्धिके अनुसार बहुत वर्णन किया। तार्किक सिद्धात तथा दृष्टात आदिसे सामान्य बुद्धिवालो अथवा जड भरतोके आगे उन्होने सिद्ध कर बताया। कीर्ति, लोकहित या भगवान् मनवानेकी आकाक्षा इनमेसे एकाध भी उनके मनका भ्रम होनेसे अत्युग्र उद्यमादिसे वे जयको प्राप्त हुए। कितनोने शृगार और लहरी[1] साधनोसे मनुष्यके मनका हरण किया। दुनिया मोहनीमे तो मूलत. डूबी पड़ी है, इसलिए लहरी दर्शनसे भेडियाधसानरूप होकर उन्होने प्रसन्न होकर उनका कहना मान्य रखा। कितनोने

१ पाठातर—लोकेच्छित।

नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुण देखकर उस कथनको मान्य रखा। प्रवर्तककी बुद्धि उनकी अपेक्षा विशेष होनेसे उसे फिर भगवानूरूप ही मान लिया। कितनोने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछेसे सुखशील साधनोंका बोध घुसेड दिया। अपने मतका स्थापन करनेके महान् श्रमसे और अपनी अपूर्णता इत्यादि चाहे जिस कारणसे दूसरेका कहा हुआ अपनेको न रुचा इसलिए उन्होने अलग ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतातरोका जाल फैलता चला गया। चार-पाच पीढियोतक एकका एक धर्मका पालन हुआ इसलिए फिर वह कुलधर्म हो गया। इस प्रकार स्थान-स्थानपर होता गया।

•

शिक्षापाठ ६०

धर्मके मतभेद--भाग ३

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतोको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नही कहा जा सके। इसलिए जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है उसके तत्त्वप्रमाणसे दूसरे मतोकी अपूर्णता और एकातिकता देखे।

इन दूसरे धर्ममतोमे तत्त्वज्ञानसबधी यथार्थ सूक्ष्म विचार नही है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्त्ता प्रमाणसे सिद्ध नही हो सकता। कितने ज्ञानसे मोक्ष है यह कहते हैं वे एकातिक हैं। इसी प्रकार क्रियासे मोक्ष है, ऐसा कहनेवाले भी एकांतिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोसे मोक्ष कहनेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नही जानते और वे इन दोनोके भेदको श्रेणिबद्ध नही कर सके, यही उनकी सर्वज्ञताकी कमी दिखायी दे

जाती है। सद्देवतत्त्वमे कहे हुए अठारह दूषणोसे वे धर्मस्थापक रहित नही थे ऐसा उनके रचे हुए चरित्रोंसे भी तत्त्वकी दृष्टिसे दिखायी देता है। कितने ही मतोमे हिसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र विषयोका उपदेश है वे तो स्वभावत. अपूर्ण और सरागी द्वारा स्थापित दिखायी देते है। इनमेसे किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष, किसीने अमुक काल तक रहकर पतित होनेरूप मोक्ष माना है। परन्तु इनमेसे उनकी कोई भी बात सप्रमाण नही हो सकती।[1] उनके अपूर्ण विचारोका खंडन वस्तुत देखने जैसा है और वह निर्ग्रंथ आचार्योंके रचे हुए शास्त्रोमे मिल सकेगा।

वेदके अतिरिक्त दूसरे मतोके प्रवर्तक, उनके चरित्र, विचार इत्यादि पढनेसे वे अपूर्ण हैं ऐसा मालूम हो जाता है।[2] वेदने प्रवर्तकोको भिन्न-भिन्न करके बेधडकतासे बातको मर्मवाली बनाकर गभीर डौल भी किया है। फिर भी उसके पुष्कल मतोको पढनेसे यह भी अपूर्ण और एकातिक मालूम हो जायगा।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमे यहाँ कहना है वह जैन अर्थात् निरागीके स्थापन किये हुए दर्शनके विषयमे है। इसके बोधदाता सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। कालभेद है तो भी यह बात सैद्धातिक प्रतीत होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिका इन जैसा पूर्ण वर्णन एकने भी नही किया है। उसके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियाँ, जीवके च्यवन, जन्म,

१ द्वि० आ० पाठा०—उनके विचारोकी अपूर्णता निस्पृही तत्त्ववेत्ताओने बतायी है उसे यथास्थित जानना योग्य है।

२ वर्तमानमें जो वेद है वे बहुत प्राचीन ग्रथ हैं, इसलिए उस मतकी प्राचीनता है। परतु वे भी हिंसाके कारण दूषित होनेसे अपूर्ण हैं, और सरागीके वाक्य हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

गति, विगति, योनिद्वार, प्रदेश, काल और उनके स्वरूपके विषयमें ऐसा सूक्ष्म बोध है कि जिससे उनकी सर्वज्ञताकी नि शकता हो। कालभेदसे परम्पराम्नायसे केवलज्ञानादि ज्ञान देखनेमे नही आते, फिर भी जो जो जिनेश्वरके रहे हुए सैद्धातिक वचन हैं वे अखड हैं। उनके कितने सिद्धात ऐसे सूक्ष्म हैं कि जिनमेसे एक एकका विचार करते हुए सारी जिंदगी बीत सकती है। आगे जाकर इस सबधी कुछ कहना है।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्मतत्त्वोसे किसी भी प्राणीको लेश मात्र खेद उत्पन्न नहीं होता। सर्व आत्माओकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश इसमे निहित है। इन भेदोको पढनेसे, समझनेसे और इन पर अति अति सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाकर जैनदर्शनकी सर्वज्ञताके लिए सर्वोत्कृष्टताके लिए हाँ कहलवाती है।

अति मननसे सभी धर्ममतोको जानकर फिर तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य सिद्ध होगा।

इस सर्वज्ञदर्शनके मूल तत्त्वो और दूसरे मतोके मूल तत्त्वोके विषयमें यहाँ विशेष कह सकने जितनी जगह नही है।

●

शिक्षापाठ ६१

सुखका विचार—भाग १

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थासे बहुत पीड़ित था। उसने तग आकर आखिर देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। स्वयं विद्वान् होनेसे उसने उपासना करनेसे पहले विचार किया कि कदाचित् कोई देव तो सतुष्ट होगा, परन्तु फिर उससे कौन-सा सुख माँगना? तप करनेके बाद माँगनेमे कुछ सूझे नही

अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप भी निरर्थक हो जाये, इसलिए एक वार सारे देशमे प्रवास करना। ससारके महापुरुषोके धाम, वैभव और सुख देखने। ऐसा निश्चय करके वह प्रवासमे निकल पड़ा। भारतके जो जो रमणीय और ऋद्धिमान् शहर थे वे देखे। युक्ति-प्रयुक्तिसे राजाधिराजोके अन्त पुर सुख और वैभव देखे। श्रीमानोंके आवास, कारोवार, वाग-वगीचे और कुटुम्व परिवार देखे। परन्तु इससे उसका मन किसी तरह माना नहीं। किसीको स्त्रीका दु.ख, किसीको पतिका दु ख, किसीको अज्ञानका दु ख, किसीको प्रिय जनोके वियोगका दु ख, किसीको निर्धनताका दु ख, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दु ख, किसीको शरीरसवधी दु ख, किसीको पुत्रका दु ख, किसीको शत्रुका दु ख, किसीको जडताका दु ख, किसीको माँ-वापका दु ख, किसीको वैधव्यदु ख, किसीको कुटुम्बका दु.ख, किसीको अपने नीच कुलका दु.ख, किसीको प्रीतिका दु ख, किसीको ईर्ष्याका दु ख, किसीको हानिका दु ख, इस प्रकार एक, दो अधिक अथवा सभी दु ख स्थान-स्थानपर उस ब्राह्मणके देखनेमे आये। इससे उसका मन किसी स्थानमे नही माना। जहाँ देखे वहाँ दु ख तो था ही। किसी भी स्थानमे सपूर्ण सुख उसके देखनेमे नही आया। अब फिर क्या माँगना ? यो विचार करते-करते एक महा धनाढ्यकी प्रशसा सुनकर वह द्वारिकामे आया। उसे द्वारिका महाऋद्धिसपन्न, वैभवयुक्त, बागबगीचोसे सुशोभित और वस्तीसे भरपूर शहर लगा। सुन्दर एव भव्य आवासोको देखता हुआ और पूछता-पूछता वह उस महा धनाढ्यके घर आ पहुँचा। श्रीमान् दीवानखानेमे वैठा था। उसने अतिथि जानकर ब्राह्मणका सन्मान किया। कुशलता पूछी और उसके लिए भोजन-व्यवस्था करवाकर थोड़ी देरके बाद सेठने धीरजसे ब्राह्मणको पूछा, "आपके आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये।" ब्राह्मणने कहा, "अभी आप क्षमा करें। पहले आपको अपने सभी

प्रकारके वैभव, धाम, बागवगीचे इत्यादि मुझे दिखाने पड़ेंगे, उन्हे देखनेके बाद मैं अपने आगमनका कारण कहूँगा।" सेठने इसका कुछ मर्मरूप कारण जानकर कहा, "भले आनदपूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार करे।" भोजनके बाद ब्राह्मणने सेठको स्वय साथ चलकर धामादिक बतानेके लिए विनती की। धनाढ्यने उसे मान्य रखा, और स्वयं साथ जाकर बागवगीचा, धाम, वैभव यह सब दिखाया। सेठकी स्त्री, पुत्र भी वहाँ ब्राह्मणके देखनेमे आये। उन्होने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सत्कार किया। उनके रूप, विनय और स्वच्छताको देखकर तथा मधुरवाणीको सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। फिर उसकी दुकानका कारोबार देखा। सौ एक कारिंदे वहाँ बैठे हुए देखे। वे भी मायालु, विनयी और नम्र उस ब्राह्मणके देखनेमे आये, इससे वह बहुत सतुष्ट हुआ। उसका मन यहाँ कुछ सतुष्ट हुआ। उसे लगा कि सुखी तो जगत्मे यही मालूम होता है।

•

शिक्षापाठ ६२

सुखका विचार---भाग २

इसके कैसे सुन्दर भवन है! इनकी स्वच्छता और सभाल कैसी सुन्दर है। कैसी सयानी और मनोज्ञा इसकी सुशील स्त्री है। इसके कैसे कातिमान् और आज्ञाकारी पुत्र हैं। कैसा मिलनसार इसका कुटुम्ब है। लक्ष्मीकी कृपा भी इसके यहाँ कैसी है! सारे भारतमे इस जैसा दूसरा कोई सुखी नही है। अब तप करके यदि मै माँगूँ तो इस महा धनाढ्य जैसा ही सब मागूँ, दूसरी चाह न करूँ।

दिन बीत गया और रात्रि हुई। सोनेका वक्त हुआ। धनाढ्य और ब्राह्मण एकातमें बैठे थे। फिर धनाढ्यने विप्रसे आगमनका कारण कहनेकी विनती की।

विप्र—मैं घरसे ऐसा विचार करके निकला था कि सबसे अधिक सुखी कौन है उसे देखूँ, और तप करके फिर उस जैसे सुखका सपादन करूँ। सारा भारत और उसके रमणीय स्थल देखे, परन्तु किसी राजाधिराजके वहाँ भी सपूर्ण सुख मेरे देखनेमे नही आया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि और उपाधि देखनेमे आई। इस ओर आते हुए आपकी प्रशसा सुनी, इसलिए मै यहाँ आया; और सतोष भी पाया। आप जैसी ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमे कही भी नही आये। आप स्वयं धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक हैं। इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि आपके जैसा सुख अन्यत्र नही है। भारतमे आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके कदाचित् देवसे माँगूँ तो आपके जैसी सुखस्थिति माँगूँ।

धनाढ्य—पडितजी! आप एक बडे मर्मभरे विचारसे निकले हैं, इसलिए आपसे मै अवश्य अपने अनुभवकी बात ज्यों की त्यों कहता हूँ, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। मेरे यहाँ आपने जो जो सुख देखे वे वे सुख भारत भरमे कही भी नही हैं यह आपने कहा, तो वैसा होगा, परन्तु सचमुच यह मुझे सभव नही लगता। मेरा सिद्धान्त ऐसा है कि जगत्मे किसी स्थानमे वास्तविक सुख नही हैं। जगत् दु खसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते है परंतु वस्तुत मैं सुखी नही हूँ।

विप्र—आपका यह कहना कोई अनुभव-सिद्ध और मार्मिक होगा। मैने अनेक शास्त्र देखे हैं, फिर भी ऐसे मर्मपूर्वक विचार ध्यानमें लेनेका मैंने परिश्रम ही नही उठाया। और मुझे ऐसा अनुभव सबके लिए नही हुआ। अब आपका क्या दु ख है, वह मुझसे कहे।

धनाढ्य—पडितजी! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ, वह ध्यानपूर्वक मनन करने जैसा है, और इससे कोई रास्ता पाया जा सकता हैं।

शिक्षापाठ ६३

सुखका विचार—भाग ३

आप अभी मेरी जैसी स्थिति देखते है वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके सम्बन्धमे पहले भी थी। मै जिस समयकी बात करता हूँ उस समयको लगभग बीस वर्ष हो गये। व्यापार और वैभवकी वहुलता यह सव कारोबार उलटा पडनेसे घटने लगा। करोड़पति कहलानेवाला मै लगातार घाटेका भार वहन करनेसे मात्र तीन वर्षमें लक्ष्मीहीन हो गया। जहाँ सर्वथा सीधा समझकर दाव लगाया था वहाँ उलटा दाव पडा। ऐसी स्थितिमें मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई सतान न थी। प्रवल हानियोके कारण मुझे यहाँसे निकल जाना पडा। मेरे कुटुम्बियोने यथाशक्ति रक्षा की, परन्तु वह आकाश फटनेपर थिगली लगाना था। अन्न और दाँतमे वैर होनेकी स्थितिसे मै बहुत आगे निकल पड़ा। जव मैं वहाँसे निकला तब मेरे कुटुम्बी मुझे रोककर रखने लगे और कहने लगे—"तूने गाँवका दरवाजा भी नही देखा, इसलिए तुझे जाने नही दिया जा सकता। तेरा कोमल शरीर कुछ भी नही कर सकता, और वहाँ जाये और सुखी हो जाये तो फिर वापस भी न आये; इसलिए यह विचार तू छोड़ दे।" मैंने अनेक प्रकारसे उन्हे समझाया कि यदि मै अच्छी स्थिति प्राप्त करूँगा तो यहाँ अवश्य आऊँगा ऐसा वचन देकर मैं जावाबंदरके पर्यटनमें निकल पड़ा।

प्रारव्ध पलटनेकी तैयारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी नही रही थी। एक या दो महीने उदरपोषण चलाने जितना साधन भी नही रहा था। फिर भी मै जावामे गया। वहाँ मेरी वुद्धिने मेरे प्रारव्धको चमका दिया। जिस जहाजमे मैं वैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चचलता और नम्रता देखकर अपने सेठसे

मेरे दु खकी बात की। उस सेठने मुझे बुलाकर एक काममे लगा दिया, जिसमे मैं अपने पोषणसे चौगुना पैदा करता था। इस व्यापारमे मेरा चित्त जब स्थिर हो गया तब भारतके साथ इस व्यापारको बढानेका मैने प्रयत्न किया और उसमे सफल हुआ। दो वर्षमे पाँच लाख जितनी कमाई हुई। फिर सेठसे राजी-खुशीसे आज्ञा लेकर मै कुछ माल खरीदकर द्वारिकाकी ओर चल दिया। थोडे समयमे वहाँ आ पहुँचा। तब बहुतसे लोगोने स्वागत करके मुझे सम्मानित किया। मैं अपने कुटुम्बियोसे आनन्दपूर्वक जाकर मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशसा करने लगे। जावेसे लिए हुए मालने मुझे एकके पाँच कराये। पडितजी! वहाँ मुझे अनेक प्रकारसे पाप करने पडे थे, मुझे वहाँ पेटभर खानेको भी नही मिला था। परन्तु एक बार लक्ष्मी सिद्ध करनेकी जो मैने प्रतिज्ञा की थी वह प्रारब्धयोगसे पूर्ण हुई। मै जिस दु.खदायक स्थितिमे था उसमे दु खकी क्या कमी थी? स्त्री, पुत्र ये तो मानो थे ही नही, माँ-बाप पहलेसे परलोक सिधार गये थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और बिना दमड़ीके जिस समय मैं जावा गया था उस समयकी स्थिति अज्ञानदृष्टिसे आँखोमे आँसू ला देती है। उस समय भी मैंने धर्ममे ध्यान रखा था, दिनका अमुक भाग उसमे लगाता था, वह लक्ष्मी या ऐसी किसी लालचसे नही; परन्तु यह मानकर कि ससार-दु खसे पार करनेवाला यह साधन है। मौतका भय क्षणभर भी दूर नही है, इसलिए यथासभव इस कर्तव्यको कर लेना, यह मेरी मुख्य नीति थी। दुराचारसे कोई सुख नही, मनकी तृप्ति नही, और आत्माकी मलिनता है, इस तत्त्वकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

शिक्षापाठ ६४

सुखका विचार—भाग ४

यहाँ आनेके बाद मैंने अच्छे घरकी कन्या प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। उससे मेरे तीन पुत्र हुए। कारोबार प्रबल होनेसे और पैसा पैसेको खीचता है इस न्यायसे मै दस वर्षमे महान् करोडपति हो गया। पुत्रोकी नीति, विचार और बुद्धिको उत्तम रखनेके लिए मैने बहुत सुन्दर साधनोकी व्यवस्था की, जिससे वे इस स्थितिको प्राप्त हुए हैं। अपने कुटुम्बियोको यथायोग्य स्थानोमे लगाकर उनकी स्थितिको सुधारा। दुकानके मैने अमुक नियम बनाये। मैने उत्तम मकान बनवानेका आरभ कर दिया। यह मात्र एक ममत्वके लिए किया। गया हुआ फिर प्राप्त किया, और कुल परम्पराकी जाती हुई प्रसिद्धिको रोका, ऐसा कहलवानेके लिए मैने यह सब किया। इसे मै सुख नही मानता। यद्यपि मैं दूसरोकी अपेक्षा सुखी हूँ, तो भी यह सातावेदनीय है, सत् सुख नही है। जगत्‌मे बहुधा असातावेदनीय है। मैने धर्ममे अपना समय बितानेका नियम रखा है। सत्‌शास्त्रोका वाचन, मनन सत्‌पुरुषोका समागम, यमनियम, एक मासमे बारह दिन ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान इत्यादि धर्ममें अपना समय बिताता हूँ। सर्व व्यवहारसबधी उपाधियोमेंसे कितना ही भाग मैने अधिकतर छोड़ दिया है। पुत्रोको व्यवहारमे यथायोग्य बनाकर मैं निर्ग्रंथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। अभी निर्ग्रंथ नही हो सकता हूँ, इसमे ससारमोहनी या ऐसा कोई कारण नही है, परन्तु वह भी धर्मसबधी कारण है। गृहस्थ धर्मके आचरण बहुत निकृष्ट हो गये है, और मुनि उन्हे सुधार नही सकते। गृहस्थ गृहस्थको विशेष उपदेश दे सके, आचरणसे भी असर डाल सके। इसलिए मैं धर्मके सबधमे गृहस्थवर्गको प्राय उपदेश देकर यमनियममे लगाता हूँ। प्रति सप्ताह अपने यहाँ लग-

भग पाँचसी गृहस्थोकी सभा होती है। मै उन्हे आठ दिनके नये अनुभव और बाकीके पिछले धर्मानुभवका दो तीन मुहूर्त तक उपदेश करता हूं। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यमनियमका बोध देकर साप्ताहिक सभा करती है। पुत्र भी शास्त्रोका भरसक परिचय रखते है। विद्वानोका सन्मान, अतिथिका सन्मान, विनय और सामान्य सत्यता, एक ही भाव— ऐसे नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते है। इसलिए ये सब साता भोग सकते हैं। लक्ष्मीके साथ-साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जनसमुदायपर बहुत अच्छा असर किया है। राजा तक भी मेरी नीतिकी बातको अङ्गीकार कर ले, ऐसी स्थिति हो गयी है। यह सब मै आत्मप्रशसाके लिए नही कहता हूँ, इसे आप ध्यानमे रखना, मात्र आपकी पूछी हुई बातकी स्पष्टताके लिए यह सब सक्षेपमे कह रहा हूँ।

शिक्षापाठ ६५

सुखका विचार—भाग ५

इन सब बातोसे आपको ऐसा लग सकेगा कि मैं सुखी हूँ और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें तो मान सकते हैं। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी न माना जाऊँ। जब तक मैंने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका सब प्रकारसे त्याग नही किया तब तक रागदोषका भाव है। यद्यपि वह बहुत अशमे नही है, परतु है सही, इसलिए वहाँ उपाधि भी है। सर्वसगपरित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकाक्षा है, परन्तु जब तक ऐसा नही

हुआ है तब तक अभी किसी माने गये प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि और कुटुम्बीका दुःख, ये थोड़े अंशमें भी उपाधि दे सकें। अपनी देहमें मौतके सिवाय भी नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है। इसलिए सर्वथा निर्ग्रंथ, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग, अल्पारंभका त्याग यह सब नही हुआ तब तक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नही मानता। अब आपको तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र या कुटुम्बसे सुख नही है, और इसको सुख मानूं तो जब मेरी स्थिति पतित हुई थी तब यह सुख कहाँ गया था? जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और जिसमें एकत्व या अव्याबाधत्व नही है वह सुख सम्पूर्ण नही है। इसीलिए मैं अपनेको सुखी नही कह सकता।। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार कारोबार करता था, तो भी मुझे आरम्भोपाधि, अनीति और लेश भी कपटका सेवन करना नही पड़ा, ऐसा तो है ही नही। अनेक प्रकारके आरम्भ कपटका मुझे सेवन करना पडा था। आप यदि मानते हों कि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करना, तो वह यदि पुण्य न हो तो कभी मिलनेवाली नही हैं। पुण्यसे लक्ष्मी प्राप्त करके महारंभ, कपट और मान इत्यादि बढाना ये महापापके कारण हैं, पाप नरकमे डालता है, पापसे आत्मा प्राप्त की हुई महान् मनुष्यदेहको व्यर्थ गवां देता है। एक तो मानो पुण्यको खा जाना और फिर पापका बंध करना, लक्ष्मीकी और उस द्वारा सारे संसारकी उपाधि भोगना, यह बात विवेकी आत्माको मान्य नही हो सकती ऐसा मैं समझता हूं। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मीका उपार्जन किया था, वह कारण मैंने पहले आपको बताया था। जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करे। आप विद्वान् हैं, मैं विद्वानको चाहता हूं। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमे

प्रसक्त होकर सह कुटुम्ब यहाँ भले रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसे कहें वैसे मैं रुचिपूर्वक करा दूँ। यहाँ शास्त्राध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें। मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ कि न पड़ें, फिर आपकी जैसी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने जैसी आख्यायिका कही। आप अवश्य कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, आपकी शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा रखता था वह एकांतिक थी। ऐसे सर्व प्रकारके विवेकी विचार मैंने नही किये थे। ऐसा अनुभव, ऐसी विवेकशक्ति, मैं चाहे जैसा विद्वान हूँ फिर भी मुझमे नही है। यह मैं सत्य ही कहता हूँ। आपने मेरे लिए जो योजना बताई है उसके लिए आपका बहुत उपकार मानता हूँ। और नम्रतापूर्वक उसे अंगीकार करनेके लिए हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं उपाधि नही चाहता। लक्ष्मीका फंदा उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। संसार जलता ही है, इसमें सुख नही है। आपने निरुपाधिक मुनिसुखकी प्रशसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि, व्याधि और सर्व अज्ञानभावसे रहित ऐसे शाश्वत मोक्षका हेतु है।

शिक्षापाठ ६६

सुखका विचार—भाग ६

धनाढ्य—आपको मेरी बात अच्छी लगी इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनन्द होता है। आपके लिए मैं योग्य योजना

करूंगा। मैं अपने सामान्य विचार कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूं।

जो केवल लक्ष्मीके उपार्जन करनेमें कपट, लोभ और मायामें उलझे पड़े हैं वे वहुत दुःखी है। वे उसका पूरा कि अधूरा उपयोग नही कर सकते, मात्र उपाधि ही भोगते है। वे असख्यात पाप करते है। उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है। वे जीव अधो-गतिको पाकर अनन्त संसारकी वृद्धि करते है। प्राप्त मनुष्य-देहको वे निर्मूल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरंतर दु खी ही हैं।

जिसने आजीविका जितने अपने साधन मात्र अल्पारंभसे रखे हैं, शुद्ध एक पत्नीव्रत, संतोष, परात्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार, अल्पराग, अल्प द्रव्य, माया और सत्य तथा शास्त्रा-ध्ययन रखे हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करता है, जिसने निर्ग्रंथता-का मनोरथ रखा है, जो वहुत प्रकारसे ससारसे विरक्त जैसा हैं, जिसके वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट है, वह पवित्रतामें सुख-पूर्वक काल व्यतीत करता है।

जो सर्व प्रकारके आरभ और परिग्रहसे रहित हुए है; द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जो अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, जो शत्रु-मित्रके प्रति समान दृष्टिवाले हैं और जिनका समय शुद्ध आत्मध्यानमे व्यतीत होता है, अथवा जो स्वाध्याय एवं ध्यानमे लीन हैं, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

जिन्होने सब घनघाती कर्मोंका क्षय किया है, जिनके चार कर्म दुर्वल पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनतज्ञानी और अनत-दर्शी हैं, वे तो पूर्ण सुखी ही हैं। वे मोक्षमे अनत जीवनके अनंत सुखमे सर्व कर्मविरक्ततासे विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषों द्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है, दूसरा अभी मान्य है, और अधिकांश इसे ग्रहण करनेका मेरा बोध है। तीसरा वह मान्य है। और चौथा तो सर्वमान्य और सच्चिदानद स्वरूप है।

इस प्रकार पडितजी ! आपकी और मेरी सुखसंबंधी बातचीत हुई। प्रसगात् इस बातकी चर्चा करते रहेगे और इसपर विचार करेगे। ये विचार आपको कहनेसे मुझे बहुत आनद हुआ है। आप ऐसे विचारोके अनुकूल हुए इससे तो आनंदमे और वृद्धि हुई है। परस्पर यो बातचीत करते करते हर्षके साथ वे समाधिभावसे सो गये।

जो विवेकी इस सुखसबध विचार करेगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणिकी उत्कृष्टताको पायेंगे। इसमें कहे हुए अल्पारंभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण लक्षपूर्वक मनन करने योग्य हैं। यथासभव अल्पारभी होकर समभावसे जनसमुदायके हितकी ओर लगना। परोपकार, दया, शांति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमें तो विशेष कहनेकी जरूरत ही नही है। मुक्तात्मा तो अनंत सुखमय ही है।

o

शिक्षापाठ ६७

अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छन्द

बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,

तोये अरे ! भवचक्रनो आंटो नहि एकके टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो ? ॥१॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पळ तमने हवो ! ! ! ॥२॥
निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहि मूझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत के पश्चात्दुःख ते सुख नहीं ॥३॥

अमूल्य तत्त्वविचार

भावार्थ—बहुत पुण्यके पुंजसे यह शुभ मानवदेह मिली, तो भी यह खेदकी बात है कि भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। इसे जरा ध्यानमें लें कि सुख प्राप्त करते हुए सुख दूर होता हैं। यह आश्चर्य है कि क्षण क्षणमें होनेवाले भावमरणमे तुम क्यो खुश हो रहे हो ? ॥१॥

भला यह तो बताओ कि लक्ष्मी और अधिकार बढ़नेसे तुम्हारा क्या बढा ? कुटुम्ब और परिवार बढ़नेसे तुम्हारी क्या बढ़ती है ? इस रहस्यको समझो। क्योंकि ससारका बढ़ना तो मनुष्यदेहको हार जाना है। यह कितना आश्चर्य है कि तुम्हे इसका विचार एक क्षणभरको भी नहीं हुआ !! ॥२॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनंद चाहे जहाँसे भले लो, जिससे यह दिव्य शक्तिमान् आत्मा बंधनसे मुक्त हो। परवस्तुमें मोहको छोड़नेके लिए इस सिद्धातको ध्यानमे रखें कि जिस वस्तुके अतमें दुःख है वह सुख नहीं है ॥३॥

हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना सिद्धांततत्त्व अनुभव्युं ॥४॥
ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं ?
निर्दोष नरनुं कथन मानो 'तेह' जेणे अनुभव्यां;
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥५॥

मैं कौन हूं ? कहांसे आया हूं ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? ये सारे लगाव किसके संबंधसे हैं ? इन्हे रखूं या छोड़ दूं ? यदि विवेकपूर्वक और शातभावसे इन बातोका विचार किया तो आत्मज्ञानके सभी सिद्धात-तत्त्व अनुभवमे आ गये ॥४॥

इसे प्राप्त करनेके लिए किसके वचनको सर्वथा सत्य मानना ? जिसने इसका अनुभव किया है उस निर्दोष पुरुषके कथनको सत्य मानो। हे भव्यो ! अपनी आत्माको तारो ! अपनी आत्माको तारो ! उसे शीघ्र पहचानो। और सभी आत्माओमे समदृष्टि रखो, इस वचनको हृदयमे अकित करो ॥ ५ ॥

शिक्षापाठ ६८

जितेन्द्रियता

जब तक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जब तक नासिका सुगंध चाहती है, जब तक कान वारागनाके गायन और वाद्य

चाहते है, जब तक आँखे वनोपवन देखनेका लक्ष रखती हैं, जब तक त्वचा सुगंधी लेपन चाहती है, तब तक यह मनुष्य निरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारभी और ब्रह्मचारी नही हो सकता। मनको वश करना यह सर्वोत्तम है। इससे सभी इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत ही दुष्कर है। मन एक समयमे असख्यात योजन चलनेवाला एक अश्व है। इसे थकाना बहुत दुष्कर है। इसकी गति चपल और पकड़मे न आ सकनेवाली है। महाज्ञानियोने ज्ञानरूपी लगामसे इसे स्तभित करके सबको जीता हैं।

उत्तराध्ययन सूत्रमें महर्षि नमिराजने शक्रेंद्रसे ऐसा कहा कि दस लाख सुभटोको जीतनेवाले कई पड़े है, परन्तु स्वात्माको जीतनेवाले बहुत दुर्लभ है, और दस लाख सुभटोको जीतनेवालोकी अपेक्षा अति उत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बध और मोक्षका कारण है। मन ही सर्व ससारकी मोहनीरूप है। इसके वशमे हो जानेपर आत्मस्वरूपको पाना लेशमात्र दुष्कर नही है।

मनसे इन्द्रियोकी लोलुपता है। भोजन, वाद्य, सुगध, स्त्रीका निरीक्षण, सुन्दर विलेपन यहसब मन ही माँगता है। इस मोहनीके आड़े आनेपर यह धर्मको याद तक नही करने देता। याद आनेके बाद सावधान नही होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमे प्रवृत्त होता है। अर्थात् लग जाता है। इसमे सफल नही होता तो सावधानीमे कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न पाकर अडिग रहकर मनको जीतते हैं वे सर्वसिद्धिको प्राप्त करते हैं।

मन अकस्मात् किसीसे ही जीता जा सकता है। नही तो गृहस्थाश्रममें अभ्यास करके ही जीता जाता है। यह अभ्यास

निर्ग्रंथतामे बहुत हो सकता है, फिर भी हम सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यह है कि यह जो दुरिच्छा करे उसे भूल जाना और वैसा नही करना। यह जब शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब इसे नही देना। संक्षेपमे, हम इससे प्रेरित न हो, परन्तु इसे प्रेरित करे और वह भी मोक्षमार्गमे। जितेन्द्रियताके विना सर्व प्रकारकी उपाधि खड़ी ही रहती है। छोडा न छोड़े जैसा हो जाता है, लोक-लज्जासे उसका सेवन करना पड़ता है, इसलिए अभ्याससे भी इनको जीतकर स्वाधीनतामे लाकर अवश्य आत्महित करना।

शिक्षापाठ ६९

ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़ें

ज्ञानियोने थोड़े शब्दोमे कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है? इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है। ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमे अति चमत्कारी ढगसे दिया है। ब्रह्मचर्यरूपी एक-सुन्दर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली जो नौ विधियाँ हैं उसे बाड़का रूप देकर ऐसी सरलता कर दी है कि आचारके पालनमे विशेष स्मृति रह सके। ये नौ वाड़े जैसी है वैसी यहाँ कह जाता हूँ।

१. **वसति**—जो ब्रह्मचारी साधु है वह जहाँ स्त्री, पशु या पण्डगसे संयुक्त वसति हो वहाँ न रहे। स्त्री दो प्रकारकी है। मनुष्यिणी और देवांगना। इस प्रत्येकके फिर दो दो भेद है। एक तो मूल और दूसरी स्त्रीकी मूर्ति या चित्र, इस प्रकारका जहाँ वास हो ब्रह्मचारी साधु न रहे। पशु अर्थात् तिर्यंचिणी

गाय, भैंस इत्यादि जिस स्थानमे हो उस स्थानमें न रहे, और जहाँ पण्डग अर्थात् नपु सकका वास हो वहाँ भी न रहे। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा हावभाव इत्यादिक विकार मनको भ्रष्ट करते हैं।

२.कथा—केवल अकेली स्त्रियोंको ही या एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारी धर्मोपदेश न करे। कथा मोहकी जननी हैं। स्त्रीके रूपसम्वन्धी ग्रन्थ, कामविलाससम्बन्धी ग्रन्थ ब्रह्मचारी न पढ़े। या जिससे चित्त चलित हो ऐसी किसी भी प्रकारकी शृंगार-सम्बन्धी कथा ब्रह्मचारी न करे।

३. **आसन**—स्त्रियोके साथ एक आसनपर न बैठे। जहाँ स्त्री वैठी हो वहाँ दो घडी तक ब्रह्मचारी न बैठे। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है इससे विकारकी उत्पत्ति होती है, ऐसा भगवान्ने कहा है।

४. **इन्द्रियनिरीक्षण**—ब्रह्मचारी साधु स्त्रियोके अगोपांग न देखे, उनके अमुक अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५.कुडयांतर—भीत, कनात अथवा टाटका व्यवधान बीचमें हो और जहाँ स्त्री पुरुष मैथुन करते हो वहाँ ब्रह्मचारी न रहे। क्योकि शब्द, चेष्टादिक विकारके कारण हैं।

६ पूर्वक्रीडा—स्वय गृहस्थावासमे चाहे जिस प्रकारके शृगारसे विषयक्रीडा की हो उसकी स्मृति न करे; वैसे करनेसे ब्रह्मचर्यका भंग होता है।

७ **प्रणीत**—दूध, दही, घृतादि मधुर और चिकने पदार्थोका वहुधा आहार न करे। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद होते है और उससे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिए ब्रह्मचारी वैसा न करे।

८. अतिमात्राहार—पेट भरकर आहार न करे तथा जिससे अति मूत्रकी उत्पत्ति हो ऐसा न करे। इससे भी विकार बढ़ता है।

९. विभूषण—स्नान, विलेपन, पुष्प आदिका ब्रह्मचारी ग्रहण न करे, इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार भगवान्ने विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिए नौ बाड़े कही हैं। बहुधा ये तुम्हारे सुननेमे आयी होगी। परन्तु गृहस्था-वासमे अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमे अभ्यासियोके ध्यानमे रहनेके लिए यहाँ कुछ समझाकर कही हैं।

शिक्षापाठ ७०

सनत्कुमार भाग—१

चक्रवर्तीके वैभवमे क्या कमी हो? सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक बार सुधर्मसभामे उस रूपकी स्तुति हुई। किन्ही दो देवोको यह बात नही रुची फिर वे उस शकाको दूर करनेके लिए विप्ररूपमे सनत्कुमारके अत पुरमें गये। उस समय सनत्कुमारकी देहमें उबटन लगा हुआ था और अगमर्दनादिक पदार्थोंका मात्र विलेपन था। एक छोटी अगोछी पहनी हुई थी और वे स्नान मज्जन करनेके लिए बैठे थे। विप्ररूपमें आये हुए देवता उनका मनोहर मुख, कचनवर्णी काया और चन्द्र जैसी कांति देखकर बहुत आनदित हुए और सिर हिलाया। इसलिए चक्रवर्तीने पूछा, "आपने सिर क्यो हिलाया।" देवोने कहा, "हम आपके रूप और वर्णका निरीक्षण करनेके लिए बहुत अभिलाषी थे। हमने स्थान-स्थान-

पर आपके वर्ण-रूपकी स्तुति सुनी थी, आज उसे हमने प्रत्यक्ष देखा, इससे हमे पूर्ण आनद हुआ। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोमे कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है उससे अधिक है, परन्तु कम नही।" सनत्कुमार स्वरूपवर्णकी स्तुतिसे गर्वमे आकर बोले, "आपने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक है, परन्तु जब मैं राजसभामे वस्त्रालकार धारण करके सर्वथा सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ, तब मेरा रूप-वर्ण देखने योग्य है। अब तो मैं शरीरमे उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस समय आप मेरे रूप वर्णको देखे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और चकित हो जायेगे।" "तो फिर हम राजसभामे आयेगे" ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये।

उसके बाद सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालकार धारण किये। अनेक उपचारोसे अपने शरीरको विशेष आश्चर्यकारी ढंगसे सजाकर वे राजसभामे आकर सिंहासनपर बैठे। आसपास समर्थ मत्री, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद अपने-अपने योग्य आसनोपर बैठे हुए थे। राजेश्वर चामरछत्र और खमा खमाके उद्गारोसे विशेष शोभित तथा सत्कारित हो रहे थे। वहाँ वे देवता फिर विप्ररूपमे आये। राजेश्वरको देखते ही उन्होने इस तरह सिर हिलाया कि मानो वे अद्भुत रूप-वर्णसे आनंदित होनेके बदले खिन्न हुए हैं। चक्रवर्तीने पूछा, "अहो ब्राह्मणो! गत समयकी अपेक्षा इस समय अपने और ही तरहसे सिर हिलाया है। इसका कारण मुझे बतायें। अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा, "हे महाराजन्! उस रूप और इस रूपमे भूमि आकाशका अतर हो गया है।" चक्रवर्तीने उसे स्पष्ट समझानेके लिए उन्हे कहा। ब्राह्मणोने कहा, "अधिराज! पहलीबार आपका शरीर अमृततुल्य था, इस बार विषतुल्य

है। जब अमृततुल्य शरीर था तब हमे आनंद हुआ था और इस समय विपतुल्य है इसलिए हमे खेद हुआ है। हम जो बात करते हैं उसे सिद्ध करना हो तो आप ताम्बूल थूके। तत्काल उस पर मक्खी बैठेगी और परलोक पहुँच जायेगी।

शिक्षापाठ ७१

सनत्कुमार भाग–२

सनत्कुमारने यह परीक्षा की तो सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमे इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई थी। विनाशी और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्कुमारके अतःकरणमे वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार सर्वथा त्याग करने योग्य है। ऐसीकी ऐसी अशुचि स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमे है। यह सब मोह-मान करने योग्य नही है, यो कहकर ६ खंडकी प्रभुताका त्याग करके वे चल निकले। वे जब साधुरूपमे विचरते थे तब महारोग उत्पन्न हुआ। उनके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेके लिए कोई देव वहाँ वैद्यरूपमे आया। साधुसे कहा, "मैं बहुत कुशल राजवैद्य हूँ, आपकी काया रोगका भोग बनी है, यदि इच्छा हो तो तत्काल मैं उस रोगको दूर कर दूँ।" साधु बोले, 'हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महोन्मत्त है, इस रोगको दूर करनेकी आपकी समर्थता हो तो भले मेरा रोग दूर कर दे। यह समर्थता न हो तो यह रोग भले रहे।" देवताने कहा, "इस रोगको दूर करनेकी समर्थता मैं नही रखता हूँ।" साधुने अपनी लब्धिके

परिपूर्ण बलसे थूकवाली अंगुलि करके उसे रोग पर लगाया कि तत्काल उस रोगका नाश हो गया और काया फिर जैसी थी वैसी हो गई। बादमें उस समय देवने अपना स्वरूप प्रगट किया, धन्यवाद देकर वंदन करके वह अपने स्थानको चला गया।

रक्तपित्त जैसे सदैव खून-पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामे है, पलभरमे विनष्ट हो जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोगोका निवास है, ऐसे साढे तीन करोड रोमोंसे भरपूर होनेसे जो रोगोंका भडार है ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग जिस कायामे प्रगट होता है; मल, मूत्र, विष्ठा, हड्डी, मांस, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है! सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र मान किया, वह भी जिससे सहन नही हुआ उस कायामें अहो पामर! तू क्या मोह करता है? यह मोह मगलदायक नही है।

•

शिक्षापाठ ७२

बत्तीस योग

सत्पुरुषोने नीचेके बत्तीस योगोका सग्रह करके आत्माको उज्ज्वल बनानेके लिए कहा है:—

१. शिष्य[1] अपने जैसा हो इसके लिए उसे श्रुतादिका ज्ञान देना।
२. अपने[2] आचार्यत्वका जो ज्ञान हो उसका दूसरेको बोध देना और उसे प्रकाशित करना।

३. आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढताका त्याग नहीं करना।
४. लोक-परलोकके सुखके फलकी इच्छाके विना तप करना।
५ जो शिक्षा मिली उसके अनुसार यतनासे आचरण करना; और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना।
६ ममत्वका त्याग करना।
७. गुप्त तप करना।
८. निर्लोभता रखना।
९ परिषह एव उपसर्गको जीतना।
१० सरल चित्त रखना।
११ आत्मसंयम शुद्ध पालना।
१२. सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
१३ चित्तकी एकाग्र समाधि रखना।
१४. कपटरहित आचार पालना।
१५ विनय करने योग्य पुरुषोका यथायोग्य विनय करना।
१६. संतोषसे तृष्णाकी मर्यादा कम कर डालना।
१७. वैराग्य भावनामें निमग्न रहना।
१८ मायारहित व्यवहार करना।
१९ शुद्ध करनीमे सावधान होना।
२० संवरको अपनाना और पापको रोकना।
२१ अपने दोषोको समभावपूर्वक दूर करना।
२२ सर्व प्रकारके विषयसे विरक्त रहना।
२३. मूल गुणोमे पंचमहाव्रतोको विशुद्ध पालना।
२४ उत्तर गुणोंमे पंचमहाव्रतोको विशुद्ध पालना।
२५ उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना।

---

१. शिष्य मोक्षसाधक योगके लिए आचार्यके पास आलोचना करे।
२ द्वि० आ० पाठा०—आचार्य आलोचनाको दूसरेके पास प्रकाशित न करे।

२६. प्रमादरहित ज्ञान व ध्यानमें प्रवर्तन करना ।
२७. आत्मचारित्रमे सदैव सूक्ष्म उपयोगसे प्रवृत्त रहना ।
२८. जितेन्द्रियताके लिए एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना ।
२९ मरणांत दुःखसे भी भयभीत नही होना ।
३०. स्त्री आदिके संगका त्याग करना ।
३१. प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करना ।
३२. मरणकालमे आराधना करना ।

यह एक एक योग अमूल्य है। इन सवका संग्रह करनेवाला परिणाममें अनंत सुखको पाता है।

०

शिक्षापाठ ७३

मोक्षसुख

इस सृष्टिमंडलमें भी कितनि ही ऐसी वस्तुएं और मनकी इच्छाएं हैं, जिन्हे कुछ अशमे जानते हुए भी कहा नही जा सकता। फिर भी ये वस्तुएं सम्पूर्ण शाश्वत या अनत भेदवाली नही हैं। ऐसी वस्तुका जव वर्णन न हो सके तव अनन्त सुखमय मोक्षसम्बन्धी उपमा तो कहाँसे मिले ? गौतम स्वामीने भगवान्‌से मोक्षके अनन्त सुखके विषयमे प्रश्न किया तव भगवान्‌ने उत्तरमे कहा—"गौतम! यह अनतसुख! मैं जानता हूं, परन्तु उसे कहा जा सके एसी यहाँ कोई उपमा नही है। जगत्‌में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु या सुख नही है।" ऐसा कहकर उन्होंने इस सूचक निम्नलिखित एक भीलका दृष्टान्त दिया था।

एक जंगलमें एक भद्रक भील अपने बालबच्चों सहित रहता था। शहर आदिकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेश भान भी न था। एक दिन एक राजा अश्वक्रीडाके लिए फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। जिससे उसने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जलसे राजा सन्तुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जलदानका बदला चुकानेके लिए राजाने भीलको समझाकर अपने साथ लिया। नगरमें आनेके बाद भीलने जिन्दगीमें न देखी हुई वस्तुओमे उसे रखा। सुन्दर महल, पासमे अनेक अनुचर, मनोहर छत्रपलग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मद पवन और सुगन्धी विलेपनसे उसे आनन्दमय कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा, माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रग बिरगी अमूल्य वस्तुएं निरन्तर उस भीलको देखनेके लिए भेजा करता था, और उसे बाग बगीचोमे घूमने-फिरनेके लिए भेजता था। इस प्रकार राजा उसे सुख दिया करता था। एक रात सब सो रहे थे। तब भीलको बालबच्चे याद आये, इसलिए वह वहाँसे कुछ लिये किये बिना एकाएक निकल पड़ा। जाकर अपने कुटुम्बियोको मिला। उन सबने मिलकर पूछा, "तू कहाँ था?" भीलने कहा, "बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशसा करने योग्य वस्तुएं देखी।"

कुटुम्बी—परंतु वे कैसी थी? यह तो हमे कह।

भील—क्या कहूं? वैसी एक भी वस्तु यहाँ नही है।

कुटुम्बी—भला ऐसा हो क्या? ये शख, सीप, कौड़ा कैसे मनोहर पड़े हैं। वहाँ ऐसी कोई देखने लायक वस्तु थी?

भील—नही, नही भाई, ऐसी वस्तु तो यहाँ एक भी नही है। उनके सौवे या हजारवें भाग जितनी भी मनोहर वस्तु यहाँ नही है।

कुटुम्बी—तब तो तू चुपचाप बैठा रह, तुझे भ्रम हुआ है, इससे अच्छा फिर क्या होगा ?

"हे गौतम ! जैसे यह भील राजवैभवसुख भोगकर आया था, और जानता था, फिर भी उपमा योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ कह नही सकता था; वैसे अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमेय न मिलनेसे मैं तुझे नही कह सकता।"

मोक्षके स्वरूपके विषयमे शका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं, उन्हें क्षणिक सुखसबधी विचारके आड़े आनेसे सत्सुखका विचार नही आता है। कोई आत्मिक ज्ञानहीन यो भी कहते हैं कि इससे कोई विशेष सुखका साधन वहाँ है नही, इसलिए अनंत अव्याबाध सुख कह देते हैं। उनका यह कथन विवेकी नही है। निद्रा प्रत्येक मानवको प्रिय है, परन्तु उसमें वह कुछ जान या देख नहीं सकता, और जाननेमे आये तो मात्र स्वप्नोपाधिका मिथ्यापना आये जिसका कुछ असर भी हो। वह स्वप्न बिनाकी निद्रा जिसमे सूक्ष्म एव स्थूल सब जाना और देखा जा सके, और निरुपाधिसे शात ऊँघ ली जा सके तो उसका वह वर्णन क्या कर सके ? उसे उपमा भी क्या दे ? यह तो स्थूल दृष्टात है, परन्तु बाल, अविवेकी इस परसे कुछ विचार कर सके, इसलिए कहा है।

भीलका दृष्टांत समझानेके लिए भाषाभेदके फेरफारसे तुम्हें कह बताया।

शिक्षापाठ ७४

धर्मध्यान—भाग १

भगवान्ने चार प्रकारके ध्यान कहे हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म

और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पिछले दो ध्यान आत्मसार्थक हैं। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिए, शास्त्र-विचारमे कुशल होनेके लिए, निर्ग्रंथप्रवचनका तत्त्व पानेके लिए, सत्पुरुषो द्वारा सेवन करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद है। पहले चार भेद कहता हूं। १. आणाविजय (आज्ञाविचय), २. अवायविजय (अपायविचय), ३. विवागविजय (विपाकविचय), ४. संठाण विजय (सस्थानविचय)।

१ आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्ने धर्मतत्त्व संबंधी जो जो कहा है वह वह सत्य है, इसमे शका करना योग्य नही। कालकी हीनतासे, उत्तमज्ञानका विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मदतासे या ऐसे अन्य किसी कारणसे मेरे समझनेमे वह तत्त्व नहीं आता। परंतु अर्हंत भगवान्ने अशमात्र भी मायायुक्त या असत्य कहा ही नही, क्योकि वे निरागी, त्यागी और नि:स्पृही थे। उनके लिए मृषा कहनेका कोई कारण न था, और वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होनेसे अज्ञानसे भी मृषा न कहे। जहाँ अज्ञान ही नही है, वहाँ तत्सबधी मृषा कहाँसे हो? ऐसा जो चितन करना वह 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है।

२. अपायविचय—राग, द्वेष, काम, क्रोध आदिसे जो दु:ख उत्पन्न होता है उसका जो चिंतन करना वह 'अपायविचय' नामका दूसरा भेद है। अपाय अर्थात् दु:ख।

३. विपाकविचय—मैं क्षण क्षणमे जो जो दु:ख सहन करता हूँ, भवाटवीमे पर्यटन करता हूं, अज्ञानादिक पाता हूं, वह सब कर्मके फलके उदयसे है, इस प्रकार जो चिंतन करना वह 'विपाक विचय' नामका धर्मध्यानका तीसरा भेद है।

४. संस्थान विचय—तीन लोकके स्वरूपका चिंतन करना।

लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठकके आकारका है, जीव-अजीवसे सपूर्ण भरपूर है। असंख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है, जहाँ असंख्यातो द्वीप-समुद्र हैं। असख्यातो ज्योतिषी, वाणव्यंतर आदिका निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमें लगी हुई है। ढाई दीपमे जघन्य तीर्थंकर बीस, उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं, तथा केवली भगवान् और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें "वदामि, नमसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं चेइय, पज्जुवासामि" इस प्रकार तथा वहाँ रहनेवाले श्रावक, श्राविकाओका गुणगान करे। उस तिरछे लोकसे असख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओका निवास है। उसके वाद ईषत् प्राग्भारा है। उसके वाद मुक्तात्माएँ विराजती है, उन्हे "वदामि, यावत् पज्जुवासामि" उस ऊर्ध्वलोकसे कुछ विशेष अधोलोक है, वहाँ अनत दु खसे भरे हुए नरकावास है और भवनपतिके भवनादिक हैं। इन तीन लोकके सर्व स्थानकोको इस आत्माने सम्यक्त्व-रहित करनीसे अनंतवार जन्ममरण करके स्पर्श किया है; ऐसा जो चितन करना वह 'सस्थानविचय' नामका धर्मध्यानका चौथा भेद है, इन चार भेदोको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्रधर्मकी आराधना करना, जिससे अनंत जन्ममरण दूर हो, धर्मध्यानके इन चार भेदोको स्मरणमें रखना।

•

शिक्षापाठ ७५

धर्मध्यान—भाग २

धर्मध्यानके चार लक्षण कहता हूँ। १ आज्ञारुचि—अर्थात्

वीतराग भगवान्‌की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न हो उसे आज्ञारुचि कहते हैं। २ निसर्गरुचि—आत्मा स्वाभाविक-रूपसे जातिस्मरणादि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्रधर्मको धारण करनेकी रूचि प्राप्त करे उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३ सूत्ररुचि-श्रुतज्ञान और अनंत तत्त्वके भेदोके लिए कहे हुए भगवान्‌के पवित्र वचनोका जिनमें गूँथन हुआ है, उन सूत्रोका श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे सूत्ररुचि कहते हैं। ४. उपदेशरुचि—अज्ञानसे उपार्जित कर्मोको हम ज्ञानसे खपायें, तथा ज्ञानसे नये कर्मोको न बाँधे, मिथ्यात्वसे उपार्जित कर्मोको सम्यक् भावसे खपायें और सम्यक् भावसे नये कर्मोको न बाँधें, अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोको वैराग्यसे खपायें, और वैराग्यसे फिर नये कर्मोको न बाधें; कषायसे उपार्जित कर्मोको कषायको दूर करके खपायें और क्षमादिसे नये कर्मोको न बाधें, अशुभयोगसे उपार्जित कर्मोको शुभयोगसे खपायें और शुभयोगसे नये कर्मोको न बाँधे; पाँच इन्द्रियोके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोको सवरसे खपाये, और तपरूप सवरसे नये कर्मोको न बाँधें, इसके लिए अज्ञाना-दिक आस्रव मार्ग छोड़कर ज्ञानादिक सवर मार्ग ग्रहण करनेके लिए तीर्थंकर भगवान्‌के उपदेशको सुननेकी रुचि उत्पन्न हो, उसे उपदेशरुचि कहते हैं। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे गये।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ—१ वाचना, २. पृच्छना, ३ परावर्त्तना, ४ धर्मकथा। वाचना अर्थात् विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सूत्र-सिद्धातके ममके जानकार गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्र तत्त्वका वाचन लें, उसका नाम वाचनालबन है। २ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, जिनेश्वर भगवान्‌के मार्गको रोशन करने तथा

शंकाशल्यके निवारणके लिए तथा अन्यके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिए यथायोग्य विनय सहित गुरु आदिको प्रश्न पूछे, उसे पृच्छनालंबन कहते हैं। ३, परावर्त्तना—पूर्वमें जो जिन-भाषित सूत्रार्थ पढ़े हों उन्हे स्मरणमे रखनेके लिए, निर्जराके लिए शुद्ध उपयोग सहित शुद्ध सूत्रार्थका स्वाध्याय करें, उसका नाम परावर्त्तनालंबन है। ४ धर्मकथा—वीतराग भगवान्‌ने जो भाव जैसे प्रणीत किये है, उन्हे वैसे समझ करके, ग्रहण करके, विशेषरूपसे निश्चय करके शका, कखा और वितिगिच्छारहित अपनी निर्जराके लिए सभामे उन भावोको वैसे प्रणीत करें, उसे धर्मकथालंबन कहते हैं। जिससे सुननेवाला और श्रद्धा करनेवाला दोनों भगवान्‌की आज्ञाके आराधक हो। ये धर्म-ध्यानके चार आलंबन कहे गये। धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षा कहता हूं। १. एकत्वानुप्रेक्षा, २, अनित्यानुप्रेक्षा ३. अशरणा-नुप्रेक्षा, ४. ससारानुप्रेक्षा। इन चारोका बोध बारह भावनाके पाठमे कहा गया है वह तुम्हे स्मरण होगा।

शिक्षापाठ ७६

धर्मध्यान—भाग ३

धर्मध्यानको पूर्वाचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया हैं। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्व-भावमे निरतर प्रवेश करती है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, आलंबन और अनुपेक्षा कहे हैं वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कहनेके अनु-

सार मैंने उन्हे सामान्य भाषामे तुम्हे कहा है। इसके साथ निरंतर यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इनमेसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा किस भेदकी ओर भावना रखी है ? इन सोलह भेदोमेसे चाहे जो भेद हितकारी और उपयोगी हैं, परतु जिस अनुक्रमसे लेना चाहिए उस अनुक्रमसे लिया जाये तो वह विशेष आत्मलाभका कारण हो जाये।

कितने ही सूत्र-सिद्धातके अध्ययन मुखाग्र करते है। यदि वे उनके अर्थ और उनमे कहे हुए मूल तत्त्वोकी ओर ध्यान दे तो कुछ सूक्ष्मभेदको पा सके। जैसे केलेके एक पत्रमे दूसरे और दूसरेमे तीसरे पत्रकी चमत्कृति है वैसे सूत्रार्थमे चमत्कृति है। इस पर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गका जो वीतराग प्रणीत तत्त्वबोध है उसका बीज अत:करणमे अकुरित हो उठेगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषके समागमसे पोषण पाकर बढकर वृक्षरूप होगा। फिर वह वृक्ष निर्जरा और आत्मप्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदातवादियोने बताये हैं, परंतु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद किसी स्थानमे नही है, ये अपूर्व है। इनसे शास्त्रको श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यको बोध करनेका, शका, कखा दूर करनेका धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका वैराग्य पानेका, ससारके अनत दु खका, मनन करनेका और वीतराग भगवान्की आज्ञासे सारे लोकालोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद-प्रभेद करके इसके फिर अनेक भाव समझाये हैं। इनमेसे कुछ भावोको समझनेसे तप, शांति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होंगे, तो भी फिर फिर उसका परावर्त्तन करना।

शिक्षापाठ ७७

ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग १

जिससे वस्तुका स्वरूप जानते हैं वह ज्ञान है। ज्ञान शब्दका यह अर्थ है। अब यथामति यह विचार करना है कि इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है ? यदि आवश्यकता है तो इसकी प्राप्तिका कुछ साधन है ? यदि साधन है तो उसके अनुकूल देश, काल और भाव हैं ? यदि देश कालादि अनुकूल हैं तो कहाँ तक अनुकूल हैं ? विशेष विचार करे तो इस ज्ञानके भेद कितने हैं ? जानने योग्य क्या है ? इसके फिर कितने भेद हैं ? जाननेके साधन कौन-कौनसे हैं ? उन साधनोको किस-किस मार्गसे प्राप्त किया जाता है ? इस ज्ञानका उपयोग या परिणाम क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? पहले इस विषयमे विचार करे। इस चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोकमें चतुर्गतिमे अनादिकालसे सकर्मस्थितिमे इन आत्माका पर्यटन है। निमेष मात्र भी सुखका जहाँ भाव नही है ऐसे नरक निगोदादिक स्थानोका इस आत्माने बहुत काल तक अनतवार सेवन किया है, असह्य दु:खोंको पुनः पुनः और कहो तो अनंतवार सहन किया है। इस उत्तापसे निरतर सतप्त होती हुई आत्मा मात्र स्वकर्म विपाकसे पर्यटन करती है। पर्यटनका कारण अनत

दु.खद ज्ञानावरणीयादि कर्म है, जिनके कारण आत्मा स्वस्व-रूपको पा नही सकती; और विपयादिक मोह वधनको स्वस्व-रूप मान रही है। इन सवका परिणाम मात्र उपर्युक्त ही है कि अनत दु.खको अनत भावोसे सहन करना। चाहे जितना अप्रिय, चाहे जितना दु खदायक और चाहे जितना रौद्र होनेपर जो दुःख अनतकालसे अनतवार सहन करना पड़ा, वह दु ख मात्र उस अज्ञानादिक कर्मसे सहन किया; उस अज्ञानादिकको दूर करनेके लिए ज्ञानकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

●

शिक्षापाठ ७८

ज्ञानसंबंधी दो शब्द-भाग २

२. अब ज्ञानप्राप्तिके साधनोके विषयमे विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिसे परिपूर्ण आत्मज्ञान सिद्ध नही होता, इसलिए छः पर्याप्तिसे युक्त देह ही आत्मज्ञानको सिद्ध कर सकती है और ऐसी देह एक मात्र मानवदेह है। यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि मानवदेहको प्राप्त अनेक आत्माएँ हैं तो वे सब आत्मज्ञानको क्यो नही प्राप्त करती ? इसके उत्तरमे हम यह मान सकेगे कि जिन्होने सपूर्ण आत्मज्ञानको पाया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हे श्रुति न हो। श्रुतिके विना सस्कार नही। यदि सस्कार नही तो फिर श्रद्धा कहाँसे हो ? और जहाँ यह एक भी नही है वहाँ ज्ञानप्राप्ति कहाँसे हो ? इसलिए मानवदेहके साथ सर्वज्ञवचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा भी साधनरूप है। सर्वज्ञवचनामृत अकर्मभूमि या केवल अनार्यभूमिमें नही मिलते,

तो फिर मानवदेह किस उपयोगकी ? इसलिए आर्यभूमि भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिए और बोध होनेके लिए निर्ग्रंथ गुरुकी आवश्यकता है द्रव्यसे जो कुल-मिथ्यात्वी है उस कुलमे हुआ जन्म भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमे हानिरूप है। क्योकि धर्ममतभेद अति दुःखदायक है। परपरासे पूर्वजो द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शनमे ही सत्यभावना बनती है। इससे भी आत्मज्ञान रुकता है। इसलिए अच्छा कुल भी आवश्यक है। इन सबको प्राप्त करनेके लिए भाग्यशाली होना। इसमे सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन है। यह द्वितीय साधनभेद कहा।

३, यदि साधन हैं तो उनके अनुकूल देश और काल हैं क्या ? इस तीसरे भेदका विचार करे। भारत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उसमे भी आर्यभूमि यह देशरूपसे अनुकूल है। जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस समय भारतमे हो, इसलिए भारत देश अनुकूल है। कालभावके अनुसार मति और श्रुत प्राप्त किये जा सके इतनी अनुकूलता है, क्योकि इस दुःषम पचमकालमे परम्पराम्नायसे परमावधि, मन.पर्यय और केवल ये पवित्र ज्ञान देखनेमे नही आते, इसलिए कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नही है।

४. देश, काल आदि यदि अनुकूल हैं तो कहाँ तक हैं ? इसका उत्तर है कि शेष रहा हुआ सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, सामान्यमतसे कालभावसे इक्कीस हजार वर्ष रहेगा। इनमेसे ढाई हजार वर्ष बीत गये,- बाकी साढ़े अठारह वर्ष रहे, अर्थात् पंचमकालकी पूर्णता तक कालकी अनुकूलता है। इसलिए देशकाल अनुकूल हैं।

●

शिक्षापाठ ७९

ज्ञानसंबंधी दो शब्द—भाग ३

अब विशेष विचार करें।

१. आवश्यकता क्या है? इस महान् विचारका मंथन पुनः विशेषतासे करे। मुख्य आवश्यक यह है कि स्वस्वरूपस्थितिकी श्रेणिपर चढ़ना। जिससे अनत दुःखका नाश हो। दुःखके नाशसे आत्माका श्रेयस्कर सुख है, और सुख निरंतर आत्माको प्रिय ही है, परतु वह स्पस्वरूपसुख हो। देश, काल और भावकी अपेक्षासे श्रद्धा, ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्-भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें जन्म, वहाँ सम्यग्भावकी पुनः उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन ज्ञान और उसका सत्य परिणाम सर्वथा सर्व दुःखका अभाव अर्थात् अखड, अनुपम, अनत शाश्वत पवित्र मोक्षकी प्राप्ति, इस सबके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है।

२ ज्ञानके भेद कितने हैं तत्सबधी विचार कहता हूँ। इस ज्ञानके भेद अनत है, परतु सामान्य दृष्टि समझ सके इसलिए सर्वज्ञ भगवान्‌ने मुख्य पाच भेद कहे हैं। उन्हे मैं ज्यों का त्यो कहता हूँ। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मन.पर्यय और पचम सपूर्ण स्वरूप केवल। इनके प्रतिभेद हैं। और फिर उनके अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनंत भंग जाल हैं।

३ जानने योग्य क्या है? इसका अब विचार करे। वस्तुके स्व-रूपको जाननेका नाम जब ज्ञान है, तब वस्तुएं तो अनंत हैं। उन्हें किस क्रमसे जानना? सर्वज्ञ होनेके बाद सर्वदर्शितासे वे सत्पुरुप उन अनत वस्तुओंके स्वरूपको सर्व भेदोंसे जानते और देखते

हैं; परतु वे किन किन वस्तुओंको जाननेसे इस सर्वज्ञ श्रेणिको प्राप्त हुए ? जब तक अनत श्रेणियोको नही जाना तब तक किस वस्तुओको जानते जानते वे अनत वस्तुओको अनतरूपसे जाने ? इस शंकाका समाधान अब करें। जो अनत वस्तुएं मानी हैं वे अनत भंगोकी अपेक्षासे हैं, परंतु मुख्य वस्तुत्व-स्वरूपसे उसकी दो श्रेणियाँ है–जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व-स्वरूपसे नव तत्त्व किंवा षड्द्रव्यकी श्रेणियाँ जानने योग्य हो जाती हैं। जिस श्रेणिसे चढते चढ़ते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोक-स्वरूप हस्तामलकवत् जाना देखा जा सकता है। इसलिए जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव हैं। ये जानने योग्य मुख्य दो श्रेणियाँ कही गई।

शिक्षापाठ ८०

ज्ञानसंबंधी दो शब्द--भाग ४

४ इनके उपदेशोको सक्षेपमे कहता हूँ। जीव चैतन्य लक्षण-से एकरूप है, देहस्वरूपसे और द्रव्यस्वरूपसे अनतानत है। देहस्वरूपसे उसकी इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं। उसकी ससर्गऋद्धि जानने योग्य है। तथा 'अजीव' उसके रूपी, अरूपी पुद्गल, आकाशादिक विचित्र भाव, कालचक्र इत्यादि जानने योग्य हैं। प्रकारान्तरसे जीव-अजीवके जाननेके लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणिरूप नौ तत्त्व कहे हैं।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, निर्जरा, बध और मोक्ष। इनमेसे कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ जानने योग्य और कुछ त्यागने योग्य हैं। ये सभी तत्त्व जानने योग्य तो है ही।

५. जाननेके साधन—यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान तो लिया है, तो भी विशेषरूपसे कुछ जानें। भगवान्की आज्ञा और उसका स्वरूप यथातथ्य जानना। स्वयं कोई ही जानता है। नही तो निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरु बता सकता है। निरागी ज्ञाता सर्वोत्तम है। इसलिए श्रद्धाके बीजका रोपण करनेवाला या उसका पोषण करनेवाला गुरु साधनरूप है। इस साधन आदिके लिए ससारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। साधन प्राप्त करनेका मार्ग कहे तो भी चले।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है। परंतु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमे दो घड़ीका समय भी नियमित रखकर जिनेश्वर भगवान्के कहे हुए तत्त्वबोधका परिशीलन करें। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहु क्षयोपशम होगा यह मैं विवेकसे कहता हूं।

शिक्षापाठ ८१

पंचमकाल

कालचक्रके विचार अवश्य जानने योग्य है। जिनेश्वरने कालके दो भेद कहे हैं—१. उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी। एक एक भेदके छः छः आरे हैं। आधुनिक वर्तमान आरा पंचमकाल कहलाता है और वह अवसर्पिणी कालका पाँचवाँ आरा है। अवसर्पिणी अर्थात् उतरता हुआ काल। इस उतरते हुए कालके पाँचवे आरामें इस भरतक्षेत्रमे कैसा वर्तन होना चाहिए इसके

लिए सत्पुरुषोंने कुछ विचार बताये हैं, वे अवश्य जानने योग्य हैं।

वे पंचमकालके स्वरूपको मुख्यतः इस प्रकार कहते हैं। निर्ग्रंथ प्रवचनमें मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जायगी। धर्मके मूल तत्त्वोमें मतमतातर वढेगे। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा। जनसमूहकी रुचि अधर्मकी ओर जायेगी। सत्य और दया धीरे धीरे पराभवको प्राप्त होगे। मोहादिक दोपोंकी वृद्धि होती जायेगी। दभी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होगे; दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने प्रपंचमे सफल होगे। मीठे परंतु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलायेंगे। आत्मिकज्ञानके भेद नष्ट होते जायेंगे। हेतुहीन क्रियाएं बढ़ती जायेगी। अज्ञान क्रियाका वहुधा सेवन किया जायेगा। व्याकुल करनेवाले विपयोके साधन बढते जायेंगे। ऐकांतिक पक्ष सत्ताधीश होगे। शृगारसे धर्म माना जायेगा।

सच्चे क्षत्रियोके विना भूमि शोकग्रस्त होगी, निस्सत्त्व राजवंशी वेश्याके विलासमे मोहित होगे. धर्म, कर्म और सच्ची राजनीति भूल जायेंगे, अन्यायको जन्म देंगे, जैसे लूटा जायेगा वैसे प्रजाको लूटेंगे। स्वय पापिष्ठ आचरणोका सेवन कर प्रजासे उनका पालन करायेगे। राजबीजके नामपर शून्यता आती जायेगी। नीच मंत्रियोकी महत्ता वढती जायेगी। वे दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देगे। शील भग करनेका धर्म राजाको अगीकार करायेंगे। शौर्य आदि सद्‌गुणोंका नाश करायेगे। मृगया आदि पापोमे अध वनायेगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजारगुना अहंकार रखेंगे। विप्र लालची और लोभी हो जायेगे। वे सद्विद्याको दबा देंगे, संसारी साधनोको धर्म ठहरायेंगे। वैश्य मायावी, केवल स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जायेगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृ-

त्तियाँ घटती जायेंगी, अकृत्य और भयंकर कृत्य करते हुए उनकी वृत्ति नही रुकेगी। विवेक विनय, सरलता इत्यादि सद्गुण घटते जायेगे। अनुकपाके नाकपर हीनता होगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम वढेगा। पिताकी अपेक्षा पुत्रमे प्रेम वढेगा। नियमपूर्वक पतिव्रत पालनेवाली सुन्दरियाँ घट जायेगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायेगी। धनसे उत्तमकुल माना जायगा। शिष्य गुरुसे उलटे चलेगे। भूमिका रस घट जायगा। सक्षेपमे कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओकी क्षीणता होगी और निकृष्ट वस्तुओका उदय होगा। पचमकाल-का स्वरूप इनका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमे परिपूर्ण श्रद्धावान् नही हो सके, सपूर्ण तत्त्वज्ञान नही पा सके। जम्बुस्वामीके निर्वाणके वाद दस निर्वाणी वस्तुओका इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गया।

पचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेगे. कालानुसार धर्मतत्त्व श्रद्धाको पाकर उच्चगतिको साधकर परिणाममे मोक्षको साधेगे। निर्ग्रंथ प्रवचन, निर्ग्रंथगुरु इत्यादि धर्मतत्त्व पानेके साधन है। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

●

शिक्षापाठ ८२

तत्त्वावबोध—भाग १

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावो को नही जाना वह अवुध सयममे कैसे स्थिर रह सकेगा? इस

वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा एवं अनात्माके स्वरूपको जानो, इसे जाननेकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

आत्मा-अनात्माका सत्यस्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेसे प्राप्त हो सकता है। अनेक मतोमे इन दो तत्त्वोके विषयमे विचार प्रदर्शित किये हैं वे यथार्थ नही हैं। महाप्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारातरसे कहे हुए मुख्य नव तत्त्वको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्मस्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादशैली अनुपम और अनत भेदभावसे भरपूर है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सके, फिर भी उनके वचनामृतोके अनुसार आगमकी सहायतासे यथामति नव तत्त्वके स्वरूपको जानना आवश्यक है। इस नव तत्त्वको प्रिय श्रद्धाभावसे जाननेसे परम विवेकबुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभावक आत्मज्ञानका उदय होता है। नव तत्त्वमें लोकालोकका सपूर्ण स्वरूप आ जाता है। जिनकी जितनी बुद्धिकी गति है वे उतनी तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुंचाते हैं और भावानुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। जिससे वे आत्मज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते है! जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानकी उपासना करते हैं वे पुरुष बड़भागी हैं।

मैं इन नव तत्त्वोके नाम पिछले शिक्षापाठमे कह गया हूं. इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रन्थोंसे अवश्य जान लेना क्योकि सिद्धातमे जो जो कहा है, उन सबको विशेष भेदसे समझनेके लिए प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्यरूप भी हैं। नव तत्त्वके ज्ञानमें

नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद आवश्यक हैं और उनका यथार्थ बोध उन प्रज्ञावानोंने दिया है।

शिक्षापाठ ८३

तत्त्वावबोध—भाग २

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके संपूर्ण भावोको जाना और देखा। उनका उपदेश भव्य लोगोंको किया। भगवान्ने अनंत ज्ञानसे लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंतभेद जाने थे; परंतु सामान्य मनुष्यको उपदेशसे श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य दीखते हुए नौ पदार्थ बताये हैं। इससे लोकालोकके सर्वभावोका इसमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म बोध है वह सब तत्त्वकी दृष्टिसे नव तत्त्वमें समा जाता है। तथा सब धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार नव तत्त्वविज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढक रही हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिए अर्हत भगवान्का पवित्र बोध है। वे अनंत शक्तियाँ तब प्रफुल्लित हो सकती हैं जब नव तत्त्वविज्ञानमें पारावारीण ज्ञानी हो।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इन नव तत्त्वके स्वरूपज्ञानमें सहायरूप है। यह भिन्न भिन्न प्रकारसे नव तत्त्वके स्वरूपज्ञानका बोध करता है। इसलिए यह निःशंक मानने योग्य है कि जिसने नव तत्त्वको अनंत भाव-भेदसे जाना वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुआ।

यह नव तत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना योग्य है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य, यों तो तीन भेद नव-तत्त्वस्वरूपके विचारमें निहित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर क्या करना? जिस गाँवमे जाना नही उसका मार्ग किस लिए पूछना?

उत्तर—आपकी इस शंकाका समाधान सहजमे हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जानने का मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो अत्याज्य समझकर किसी समय सेवित हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमे पहुँचने तक रास्तेमे जो जो गाँव आनेवाले हो उनका रास्ता भी पूछना पड़ता है, नही तो जहाँ जाना है वहाँ नही पहुँचा जा सकता। जैसे वे गाँव पूछे परतु वहाँ वास नही किया; वैसे पापादि तत्त्वोको जानना परंतु ग्रहण नही करना। जैसे रास्तेमे आने वाले गाँवोंका त्याग किया वैसे उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८४

तत्त्वावबोध—भाग ३

जो सत्पुरुष गुरुगम्यतासे श्रवण, मनन और निदिध्यासन-पूर्वक नव तत्त्वका ज्ञान कालभेदसे प्राप्त करते हैं वे सत्पुरुष महा पुण्यशाली तथा धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषको मेरा विनयभाव भूषित यही बोध है कि नव तत्त्वको स्वबुद्धिके अनुसार यथार्थ जानना।

महावीर भगवान्‌के शासनमे बहुत मतमतांतर पड़ गये है, उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि तत्त्वज्ञानकी ओर उपासक वर्गका ध्यान नही रहा। वह मात्र क्रियाभावमे अनुरक्त रहा, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमे आई

हुई पृथ्वीकी आवादी लगभग डेढ अरब मानी गयी है; उसमें सव गच्छोंको मिलाकर जैन प्रजा केवल तीन लाख है। यह प्रजा श्रमणोपासक है। मैं जानता हूँ कि इनमेसे दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नव तत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उंगलियोंपर गिनने लायक भी नहीं होंगे। जब तत्त्व ज्ञानकी ऐसी पतित स्थिति हो गयी है तभी मतमतांतर वढ़ गये हैं। एक लौकिक कथन है कि 'सौ सयाने एक मता। इस तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमे भिन्नता वहुधा नही आती।

इस नव तत्त्वके विचारके संवंधमे प्रत्येक मुनिसे मेरी विज्ञप्ति है कि विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेष वृद्धि करना। इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होंगे जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनदकी प्रसादी मिलेगी, मुनिका आचार पालनेमे सरल हो जायगा, ज्ञान और क्रिया विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा, परिणाममे भवांत हो जायगा।

शिक्षापाठ ८५

तत्वाववोध—भाग ४

जो जो श्रमणोपासक नव तत्त्वको पढना भी नही जानते वे उसे अवश्य जानें। जाननेके वाद वहुत मनन करें। जितना समझमे आ सके, उतने गम्भीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावसे समझें। इससे आत्मज्ञान उज्ज्वलताको प्राप्त होगा, और यम, नियम आदिका पालन होगा।

नव तत्त्वका अर्थ नव तत्त्व नामकी कोई पुस्तक नही है, परतु जिस जिस स्थलमे जो जो विचार ज्ञानियोने प्रणीत किये हैं वे सब विचार नव तत्त्वमेसे किसी एक दो या अधिक तत्त्वके होते हैं। केवली भगवान्‌ने इन श्रेणियोसे सकल जगत्‌मंडल दिखा दिया है। इससे ज्यो ज्यो नय आदिके भेदसे यह तत्त्वज्ञान मिलेगा त्यो त्यो अपूर्व आनद और निर्मलताकी प्राप्ति होगी, मात्र विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमाद चाहिए। यह नव तत्त्व-ज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।

कालभेदसे इस समय भरतक्षेत्रमे मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान हैं, बाकीके तीन ज्ञान परपराम्नायसे देखनेमे नही आते, फिर भी ज्यो ज्यो पूर्ण श्रद्धाभावसे इस नव तत्त्व-ज्ञानके विचारोकी गुफामे उतरा जाता है, त्यो त्यो उसके अदर अद्‌भुत आत्मप्रकाश, आनद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद और गभीर चमक चकित करके वे विचार शुद्ध सम्य-ग्ज्ञानका बहुत उदय करते हैं। स्याद्वादवचनामृतके अनन्त सुंदर आशयोको समझनेकी परम्परागत शक्तिका इस कालमे इस क्षेत्रसे विच्छेद हो गया है, फिर भी उस सबधी जो जो सुदर आशय समझमें आते है वे सब आशय गभीर तत्त्वसे भरे हुए हैं। और ऐसे हैं कि पुन. पुन उन आशयोका मनन करनेसे चार्वाक मतिके चचल मनुष्य भी सद्धर्ममें स्थिर हो जाये। संक्षेपमे सर्व प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल, गहन और गभीर विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेट ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

शिक्षापाठ ८६

तत्त्वावबोध—भाग ५

एक बार समर्थ विद्वान्‌से निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृतिसंबंधी बातचीत हुई। उसके संबंधमे उस विद्वान्‌ने बताया—"मैं इतना मान्य रखता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने जो बोध दिया है उसे ग्रहण करके प्रज्ञावान् पुरुषोंने अंग, उपांगकी योजना की है, उनके जो विचार है वे चमत्कृतिसे भरे हुए है, परन्तु इससे मैं यह नही कह सकता कि इनमे सारी सृष्टिका ज्ञान निहित है। ऐसा होनेपर भी यदि आप इस संबंधमें कुछ प्रमाण देते हो तो मैं इस बातमे कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।" इसके उत्तरमे मैंने यह कहा कि मैं कुछ जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या परन्तु विशेष भेदसे भी नही जानता, परन्तु सामान्य भावसे जो जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ फिर नव तत्त्व विज्ञानसंबंधी बातचीत निकली। मैंने कहा कि इसमे सारी सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिए। फिर उन्होने इस कथनका प्रमाण माँगा, तब मैंने आठ कर्म कह बताये। उसके साथ यह सूचित किया कि इनके सिवाय इनसे भिन्न भाव बतानेवाला कोई नौवाँ कर्म खोज निकाले। पाप और पुण्यकी प्रकृतियोको बताकर कहा कि इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति खोज निकाले। यो कहते कहते अनुक्रमसे बात चलायी। प्रथम जीवके भेद कहकर पूछा कि क्या इनमे आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हैं? अजीव द्रव्यके भेद कहकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हैं? यो नव तत्त्वसंबंधी बातचीत हुई तब उन्होने थोड़ी देर विचार करके कहा—"यह तो

महावीरकी कहनेकी अद्भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नही मिलता। इसी तरह पापपुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नही मिलती, और नौवाँ कर्म भी नही मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धांत जैनदर्शनमे हैं, यह मेरे ध्यानमें न था। इसमें सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कितने अशोमें आ सकता है सही।"

●

शिक्षापाठ ८७

तत्वावबोध—भाग ६

इसका उत्तर इस ओरसे दिया गया है कि अभी आप जो इतना कहते हैं वह भी तब तक कि जब तक आपके हृदयमें जैनधर्मके तत्त्वविचार नही आये हैं, परंतु मैं मध्यस्थतासे सत्य कहता हूं कि इसमें जो शुरू ज्ञान बताया है वह कही भी नही है, और सर्व मतोने जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमे आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षी नही।

आपने यों कहा कि इसमे सारी सृष्टिका तत्त्वज्ञान कितने अंशोमें आ सकता है सही, परतु यह मिश्र वचन है। हमारी समझानेकी अल्पज्ञतासे यो हो सकता है सही परंतु इससे इन तत्त्वोमे कुछ अपूर्णता है, ऐसा तो है ही नही। यह कुछ पक्षपाती कथन नही है। विचार करनेपर सारी सृष्टिमेसे इनके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोजनेसे कभी मिलनेवाला नही है। इस सवधमें प्रसगोपात्त हमारी जब वातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब निःशंकता आयेगी।

उत्तरमे उन्होने कहा कि—इस परसे मुझे यह तो नि शंकता है कि जैन दर्शन एक अद्भुत दर्शन है। आपने मुझे श्रेणिपूर्वक नव तत्त्वके कुछ भाग कह बताये, इससे मैं यह बेधडक कह सकता हूं कि महावीर गुप्तभेदको पाये हुए पुरुष थे। इस प्रकार थोड़ीसी बात करके 'उप्पन्ने वा' "विगमे वा" "धुवेइ वा" यह लब्धिवाक्य उन्होने मुझे कहा। यह कहनेके बाद उन्होंने यो बताया—"इन शब्दोके सामान्य अर्थमे तो कोई चमत्कृति नही दीखती। उत्पन्न होना, नाश होना और अचलता यह इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान् गणधरोने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन वचनोको गुरुमुखसे श्रवण करनेसे पहलेके भाविक शिष्योको द्वादशागीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिए मैंने बहुत कुछ विचार किया फिर भी मुझे तो ऐसा लगा कि यह होना असभव है, क्योंकि अतीव सूक्ष्म माना हुआ सैद्धातिक ज्ञान इसमे कहांसे समाये ? इस सबधमे आप कुछ प्रकाश डाल सकेगे ?"

●

शिक्षापाठ ८८

तत्त्वावबोध—भाग ७

मैंने उत्तरमें कहा कि इस कालमे तीन महाज्ञान परम्परास्नायसे भारतमे देखनेमे नही आते, ऐसा होनेपर भी मैं कोई सर्वज्ञ या महाप्रज्ञावान् नही हूं; उतना विचार करके कुछ समाधान कर सकूंगा फिर भी मैं सामान्य बुद्धि जितना विचार कर सकूंगा, ऐसा मुझे संभव लगता हैं। तब उन्होने कहा कि यदि ऐसा सभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर

'ना' और 'हाँ' के विचारसे लागू करे, वह यों कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है? नही। जीव क्या व्ययरूप है? नही। जीव क्या ध्रुवतारूप है? नही। इस तरह एक बार लागू करे। और दूसरी बार जीव क्या उत्पत्तिरूप है? हाँ। जीव क्या व्ययरूप है? हाँ। जीव क्या ध्रुवतारूप है? हाँ। इस तरह लागू करे। ये विचार सारे मंडलमें एकत्र करके योजित किये हैं। यदि ये यथार्थ न कहे जा सके तो अनेक प्रकारसे दूषण आ सकते है। जो वस्तु व्ययरूप हो वह ध्रुवतारूप न हो, यह पहली शंका है। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवतारूप नही है तो जीवको किस प्रमाणसे सिद्ध करेगे? यह दूसरी शंका। व्यय और ध्रुवतामें परस्पर विरोधाभास है, यह तीसरी शका। जीव केवल ध्रव है तो उत्पत्तिमें जो हाँ कहा वह असत्य ठहरेगा, यह चौथा विरोध। उत्पत्तियुक्त जीवका ध्रवभाव कहे तो उत्पत्ति किसने की? यह पाँचवाँ विरोध, अनादिता जाती रहे यह छठी शंका। केवल ध्रुवता व्ययरूप कहे तो चार्वाकमिश्र वचन हुआ यह सातवाँ दोप। उत्पत्ति और व्ययरूप कहेगे तो केवल चार्वाकका सिद्धांत होगा, यह आठवाँ दोष, उत्पत्तिकी ना, व्ययकी ना और ध्रुवताकी ना कहकर फिर तीनोंकी हाँ कही इसके पुनः रूपमें छः दोष। इसलिए कुल मिलाकर चौदह दोष होते हैं। केवल ध्रुवता चली जानेसे तीर्थंकरके वचन खडित हो जाते हैं यह पंद्रहवाँ दोष। उत्पत्ति ध्रुवता लेनेपर कर्ताकी सिद्धि हो जानेसे सर्वज्ञवचन खडित हो जाते हैं, यह सोलहवाँ दोष। उत्पत्ति व्ययरूपसे पापपुण्यादिकका अभाव अर्थात् धर्माधर्म सब जाता रहता है, यह सत्रहवाँ दोष। उत्पत्ति, व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचलता नही) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है, यह अठारहवाँ दोष।

❁

शिक्षापाठ ८९

तत्त्वाववोध—भाग ८

ये कथन सिद्ध न होनेसे इतने दोष आते हैं। एक जैन मुनिने मुझे और मेरे मित्रमंडलसे यों कहा था कि जैन सप्तभंगी नय अपूर्व है, और इससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसमे अस्ति नास्तिके अगम्य भेद हैं। यह कथन सुनकर हम सब घर आये, फिर भोजन करते-करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर योजित किया। मैं मानता हूं कि ऐसे अस्ति नास्तिके दोनो भाव जीवपर लागू नही हो सकते। लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो पड़ेगे। यद्यपि इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नही है। इसके उत्तरमें कहा कि अपने जो अस्ति और नास्ति नय जीवपर लागू करनेका विचारा है वह सनिक्षेप शैलीसे नही, इसलिए कदाचित इसमेसे एकांतिक पक्ष लिया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद शैली का यथार्थ ज्ञाता नही हूं। मन्दमति से लेशभाग जानता हूं। नास्ति अस्तिनय को भी आपने शैलीपूर्वक लागू नही किया है। इसलिए मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूं, उसे आप सुने।

उत्पत्तिमें 'नास्ति' की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'जीव अनादि अनंत है'। व्ययमें 'नास्ति' की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'इसका किसी काल में नाश नही है।'

ध्रुवतामे नास्तिकी जो योजना की है वह यों यथार्थ हो सकती है कि 'एक देहमें वह सदैवके लिए रहनेवाला नही है।'

०

शिक्षापाठ ९०

तत्त्वाववोध—भाग ९

उत्पत्तिमे 'अस्ति' की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो

सकती है कि 'जीवका मोक्ष होने तक एक देहमेंसे च्युत होकर दूसरी देहमे उत्पन्न होता है।'

व्ययमे 'अस्ति' की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'जिस देहमेसे आया वहाँसे व्ययको प्राप्त हुआ; अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषयादि मरणसे रुद्ध हो रही है, इस प्रकार व्यय योजित किया जा सकता है।'

ध्रुवतामें 'अस्ति' की जो योजना की है वह यो यथार्थ हो सकती है कि 'द्रव्यसे जीव किसी कालमे नाशरूप नही है, त्रिकाल सिद्ध है।'

मैं समझता हूँ कि अब इससे योजित दोष भी दूर हो जायेगे।

१. जीव व्ययरूपसे नही हैं, इसलिए ध्रुवता सिद्ध हुई। यह पहला दोष दूर हुआ।

२. उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये न्यायसे भिन्न भिन्न सिद्ध हुए, इसलिए जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ, यह दूसरा दोष दूर हुआ।

३. जीवकी सत्यस्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इसलिए व्यय चला गया। यह तीसरा दोष दूर हुआ।

४. द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई, यह चौथा दोष दूर हुआ।

५. जीव अनादि सिद्ध हुआ, इसलिए उत्पत्तिसबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

७. ध्रुवताके साथ व्यय लेनेमे अबाध हुआ इसलिए चार्वाक मिश्रवचनका सातवाँ दोष दूर हुआ।

८. उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुआ; इस-

शिक्षापाठ ९२

तत्वावबोध—भाग ११

यही नव तत्त्वके संबंधमे है। जिस मध्यवयके क्षत्रिय पुत्रने 'जगत् अनादि है,' यों बेधड़क कहकर कर्ताको उड़ाया होगा, उस पुरुषने क्या कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा ? इसी तरह जब आप इनकी निर्दोषिताके विषयमे पढ़ेंगे तब निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्ता न था और जगत् अनादि था तभी तो ऐसा कहा। इनके अपक्षपाती और केवल तत्त्वमय विचार आपसे अवश्य विशोधन करने योग्य हैं। जैनदर्शनके अवर्णवादी मात्र जैनदर्शनको नहीं जानते इसलिए अन्याय करते हैं। मैं समझता हूं कि वे ममत्वसे अधो-गतिको प्राप्त करेंगे।

इसके बाद बहुत-सी बातचीत हुई। प्रसंगोपात्त इस तत्वका विचार करनेका वचन लेकर मैं सहर्ष वहांसे उठा था।

तत्वावबोधके संबंधमे यह कथन कहा। अनंत भेदसे भरे हुए ये तत्वविचार कालभेदसे जितने ज्ञेय प्रतीत हो उतने ज्ञेय करना, जितने ग्राह्य हो उतने ग्रहण करना और जितने त्याज्य दिखायी दे उतने त्यागना।

इन तत्वोको जो यथार्थ जानता है वह अनंत चतुष्टयसे विराजमान होता है यह मैं सत्यतासे कहता हूं। इन तत्वोके नाम रखनेमे भी मोक्षकी निकटताका अर्थ सूचन मालूम होता है।

शिक्षापाठ ९३

तत्वावबोध—भाग १२

यह तो आपके ध्यानमे है कि जीव अजीव इस अनुक्रमसे अंतमें मोक्षका नाम आता है। अव इन्हे एकके बाद एक रखते जाये तो जीव और मोक्षको अनुक्रमसे आद्यत रहना पड़ेगा।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बध, मोक्ष।

मैंने पहले कहा था कि इन नामोके रखनेमे जीव और मोक्षकी निकटता है। फिर भी यह निकटता तो न हुई, परन्तु जीव और अजीवकी निकटता हुई, परन्तु ऐसा नही है। अज्ञानसे तो इन दोनोकी ही निकटता है। ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, जैसे कि.—
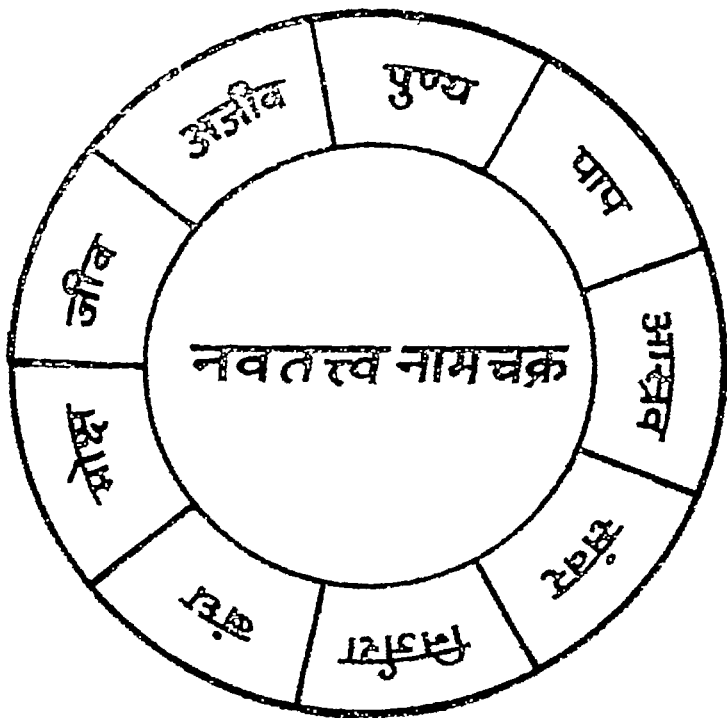
लिए केवल चार्वाकसिद्धांत नामका आठवाँ दोष दूर हुआ।

९. से १४ शंकाका परस्पर विरोधाभास दूर हो जानेसे चौदह तकके दोष दूर हो गये।

१५ अनादि अनतता सिद्ध हो जानेसे स्याद्वादवचन सत्य हुआ, यह पद्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१६ कर्ता नही है, यह सिद्ध होनेसे जिनवचनकी सत्यता सिद्ध हुई, यह सोलहवाँ दोष दूर हुआ।

१७ धर्माधर्म, देहादिक पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवाँ दोष दूर हुआ।

१८ ये सब बाते सिद्ध होनेसे त्रिगुणात्मक माया असिद्ध हुई, यह आठवाँ दोष दूर हुआ।

०

शिक्षापाठ ९१

तत्वावबोध—भाग १०

मैं समझता हूं कि आपकी योजित योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। यह कोई यथार्थ शैली लागू नही की है, तो भी इसमे कुछ भी विनोद मिल सकता है। इस पर विशेष विवेचन करनेके लिए बहुतसा वक्त चाहिए, इसलिए अधिक नही कहता, परन्तु एक दो सक्षिप्त बातें आपसे कहनी है। यदि यह समाधान योग्य हुआ हो तो कहूं। बादमे उनकी ओरसे मनमाना उत्तर मिला और उन्होने कहा कि एक दो बात जो आपको कहनी हो उन्हे सहर्ष कहे।

फिर मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके संबंधमे कहा। आप इस लब्धिसंबंधी शंका करें या इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इसमे अति-अति उज्ज्वल आत्मिक शक्ति, गुरुगम्यता और वैराग्यकी आवश्यकता है। जब तक ऐसा नही है तब तक लब्धिके विषयमे शंका रहे सही। परंतु मैं समझता हूं कि इस समय इस संबंध मे कहे हुए दो शब्द निरर्थक नही जाये। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति–अस्तिपर योजित करके देखा वैसे, इसमे भी बहुत सूक्ष्म विचार करना है। देहमे देहकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इंद्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयु, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँ तक लक्ष पहुंचता है वहाँ तक सभी विचार करते है। परंतु द्रव्यार्थिक और भावार्थिक नयसे सारी सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोमे समाया है। उसका विचार कोई विरला ही करता है। वह सद्‌गुरुमुखकी पवित्र लब्धिरूपमें जब आये तब द्वादशांगी ज्ञान किस लिए न हो? 'जगत्' ऐसा कहनेसे मनुष्य, एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खंड, एक पृथ्वी इन सबको छोडकर असंख्यात् द्वीप समुद्र आदिसे भरपूर वस्तु एकदम कैसे समझ जाता है? इसका कारण मात्र इतना ही है कि इस शब्दकी बहुलताको उसने समझा है किंवा लक्षकी अमुक बहुलताको समझा है, जिससे जगत यों कहते ही इतने बड़े मर्मको समझ सकता है। इसी तरह ऋतु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रन्थ गुरुसे उन तीन शब्दोकी गम्यता लेकर द्वादशांगी ज्ञान प्राप्त करते थे। और वह लब्धि अल्पज्ञताके कारण विवेकसे देखनेपर क्लेशरूप भी नही है।

अब देखे इन दोनोमे कुछ निकटता आई है ? हाँ, कही हुई निकटता आ गई है । परतु यह निकटता तो द्रव्यरूप है । जब भावसे निकटता आये तब सर्वसिद्धि हो । इस निकटताका साधन सत्परमात्मतत्व, सद्गुरुतत्व और सद्धर्मतत्व है । केवल एक ही रूप होनेके लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र है ।

इस चक्रसे ऐसी भी आशंका हो सकती है कि जब दोनो निकट हैं तब क्या बाकीका त्याग करना ? उत्तरमे यो कहता हूँ कि यदि सबका त्याग कर सकते हो तो त्याग कर दे, जिससे मोक्षरूप ही हो जायेंगे । नही तो हेय, ज्ञेय, उपादेयका बोध ले, जिससे आत्मसिद्धि प्राप्त होगी ।

शिक्षापाठ ९४

तत्वावबोध--भाग १३

जो जो मैं कह गया हूँ वह सब कुछ केवल जैनकुलसे जन्म पानेवाले पुरुषोके लिए नही है, परन्तु सबके लिए है । इसी तरह यह भी नि शंक मानिये कि मैं जो कहता हूँ वह अपक्षपात और परमार्थबुद्धिसे कहता हूँ ।

तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है उसे पक्षपात या स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मुझे कोई प्रयोजन नही है । पक्षपात या स्वार्थ-से मैं तुम्हे अधर्मतत्वका बोध देकर अधोगतिको किस लिए साधूँ ? बारबार मैं तुमसे निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिए कहता हूँ उसका कारण यह है कि वे वचनामृत तत्वमे परिपूर्ण हैं । जिनेश्वरोके लिए ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा कि पक्षपाती बोध देते, और वे अज्ञानी न थे कि जिससे मृषा उपदेश दिया जाता । आशका करेंगे

कि वे ज्ञानी नही थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो ? तो इसके उत्तर मे कहता हूं कि उनके पवित्र सिद्धान्तोके रहस्यका मनन करे, और जो ऐसा करेगा वह तो फिर लेश भी आशंका नही करेगा। जैनमतके प्रवर्तकोने मुझे कोई भूरसी दक्षिणा नही दी है और वे मेरे कुटुम्ब-परिवार भी नही हैं कि उनके पक्षपातसे मैं कुछ भी तुमसे कह दूं। इसी प्रकार अन्य मतके प्रवर्तकोके प्रति मेरी कोई वैरबुद्धि नही है कि मिथ्या ही उनका खडन करूं। दोनोके प्रति मैं तो मंदमति मध्यस्थरूप हूं। बहुत बहुत मननसे और मेरी मति जहाँ तक पहुंची है वहाँ तक विचार करनेसे मैं विनयसे यो कहता हूं कि प्रिय भव्यो! जैन जैसा एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नही है, वीतराग जैसा एक भी देव नही है, तैरकर अनत दु.खसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ-दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

शिक्षापाठ ९५

तत्त्वावबोध--भाग १४

जैनदर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचारसकलनासे भरा हुआ दर्शन है कि जिसमे प्रवेश करनेमे भी वक्त चाहिए। ऊपर-ऊपरसे या किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुसबधी अभिप्राय बना लेना या देना, यह विवेकीका कर्तव्य नही है। एक तालाब सपूर्ण भरा हुआ हो, उसका जल ऊपरसे समान लगता है, परन्तु ज्यो-ज्यो आगे चलते हैं त्यों-त्यो अधिक-अधिक गहराई आती जाती है, फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है। इसी प्रकार जगतके सभी धर्ममत एक

तालावरूप है। उन्हे उपरसे सामान्य सतह देखकर समान कह देना यह उचित नही है। यो कहनेवाले तत्वको पाये हुए नही हैं। जैनके एक एक पवित्र सिद्धान्तपर विचार करनेमे आयु भी पूर्ण हो जाये तो भी पार न पाये, ऐसी स्थिति है। बाकीके सभी धर्ममतोके विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिंधुके आगे एक बिन्दुरूप भी नहीं है। जिसने जैनदर्शनको जाना और सेवन किया वह सर्वथा निरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे? इसके सिद्धात कैसे अखड सपूर्ण और दयामय हैं। इसमे दूषण कोई भी नही है। सर्वथा निर्दोष तो मात्र जैनदर्शन है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नही है कि जो जैनदर्शनमे न हो और ऐसा एक भी तत्व नही है कि जो जैनदर्शनमें नही है। एक विषयको अनंत भेदोसे परिपूर्ण कहनेवाला तो जैनदर्शन है। प्रयोजनभूत तत्व इसके जैसे कही भी नहीं हैं। एक देह में दो आत्माएं नही हैं, इसी प्रकार सारी सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य एक भी दर्शन नही है। ऐसा कहनेका कारण क्या? मात्र उसकी परिपूर्णता, निरागिता, सत्यता और जगद्‌हितैपिता।

शिक्षापाठ ९६

तत्वावबोध--भाग १५

न्यायपूर्वक इतना मुझे भी मान्य रखना चाहिए कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखानी चाहिए। और इन दो बातो पर विवेचन करने जितना यहाँ स्थान नही है, तो भी थोडा-थोड़ा कहता आया हूं। मुख्यतः जो बात है वह यह है कि मेरी

यह बात जिसे रुचिकर न लगती हो या असम्भव लगती हो उसे जैनतत्वविज्ञानी शास्त्रोको और अन्य तत्वविज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मनन करके न्यायके कांटेपर तोलना चाहिए। इससे इतना महावाक्य अवश्य फलित होगा कि जो पहले डंकेकी चोटसे कहा गया था वह सच था।

जगत् भेड़ियाधसान है। धर्मके मतभेदसम्बन्धी शिक्षापाठमें प्रदर्शित किये अनुसार अनेक धर्ममतोंके जाल फैल गये है। विशुद्ध आत्मा कोई ही होती है। विवेकसे कोई ही तत्वको खोजता है। इसलिए मुझे कुछ विशेष खेद नही है कि अन्य दार्शनिक जैनतत्वको किस लिए नही जानते? यह आशका करने योग्य नही है।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्वको पाये हुए, सकल दूषणरहित, मृषा कहनेका जिन्हें कोई निमित्त नही ऐसे पुरुषोके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वय तो जाना नही, अपनी आत्माका हित तो किया नही, परन्तु अविवेकसे मतभेदमे पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक किस लिए कहा होगा? मैं समझता हूं कि वे कहनेवाले इसके तत्त्वोंको जानते न थे। तथा इसके तत्त्वोको जाननेसे अपनी श्रद्धा बदल जायेगी, तब लोग फिर अपने पहले कहे हुए मतको नही मानेगे। जिस लौकिक मतसे अपनी आजीविका चल रही है, ऐसे वेदोंकी महत्ता घटानेसे अपनी महत्ता घटेगी, अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नही चलेगा, इसलिए जैनतत्त्वमे प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बद करनेके लिए ऐसी भ्रमभस्म दी कि जैनदर्शन नास्तिक है। लोग तो बेचारे भोले भेडें है, इसलिए वे फिर विचार भी कहाँसे करे? यह कहना अनर्थकारक और मृषा है, इसे

वे ही जानते है कि जिन्होने वीतरागप्रणीत सिद्धान्त विवेकसे जाने हैं। सभवत: मंदबुद्धि मेरे कहनेको पक्षपात मान ले।

●

शिक्षापाठ ६७

तत्वाववोध--भाग १६

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलवानेमे वे एक दलीलसे व्यर्थ ही सफल होना चाहते हैं कि जैनदर्शन इस जगत्के कर्ता परमेश्वरको नही मानता; और जो परमेश्वरको नही मानता वह तो नास्तिक ही है। यह बात भद्रिक जनोको शीघ्र जम जाती है, क्योकि उनमे यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नही है। परन्तु यदि इस पदसे यह विचार किया जाये कि फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि अनत किस न्यायसे कहता है? जगत्-कर्त्ता नही है यो कहनेमे इसका कारण क्या है? यो एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। जगत्को रचनेकी परमेश्वरको क्या आवश्यकता थी? रचा तो सुख-दु.ख रखनेका क्या कारण था? रचकर मौत किस लिए रखी? यह लीला किसे वतलानी थी? रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा क्यो नही थी? ईश्वर कौन? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? रचा तो जगत्मे एक ही धर्मका प्रवर्तन रखना था, यो भ्रममे डालनेकी क्या आवश्यकता थी? कदाचित् यह सब मानो कि उस वेचारेकी भूल हुई! होगी! क्षमा करें परन्तु ऐसी सवाई बुद्धि कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही जड-मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्मे क्यो विद्यमान

रखा ? अपने ही हाथसे अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारनेको क्या आवश्यकता थी ? एक तो मानो इस प्रकारके विचार और बाकी दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैन-दर्शनके प्रवर्तकोको इससे कोई द्वेष था ? यह जगत्कर्त्ता होता तो यो कहनेसे उनके लाभको कोई हानि पहुंचती थी ? जगत्कर्त्ता नही है, जगत् अनादि अनत है यो कहनेमे उन्हे कुछ महत्ता मिल जाती थी ? ऐसे अनेक विचारोका विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगत्का स्वरूप था वैसा ही उन पवित्र पुरुषोने कहा है। इससे भिन्न रूपमे कहनेका उनका लेश मात्र प्रयोजन नही था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जीवकी रक्षाका जिसने विधान किया है, एक रजकणसे लेकर सारे जगत्के विचार जिन्होने सर्व भेदोंसे कहे हैं, ऐसे पुरुषोके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको प्राप्त होगे यह विचार करते हुए दया आती है।

●

शिक्षापाठ ९८

तत्त्वावबोध—भाग १७

जो न्यायसे जय प्राप्त नही कर सकता वह फिर गालियाँ देने लगता है। इसी तरह जब शंकराचार्य, दयानद सन्यासी इत्यादि जैनदर्शनके अखड तत्त्व-सिद्धांतोका खंडन न कर सके तब फिर वे 'जैन नास्तिक है,' 'वह चार्वाकमेसे उत्पन्न हुआ है,' ऐसा कहने लगे। परन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज ! यह विवेचन आप पीछे करे। ऐसे शब्दोंको कहनेमे किसी समय, विवेक या ज्ञानकी जरूरत नही है; परन्तु इसका उत्तर दे कि जैनदर्शन वेदसे किस बातमे कम है, इसका ज्ञान, इसका बोध,

इसका रहस्य और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहे ! आपके वेदविचार किस विषयमे जैनदर्शनसे बढकर हैं ? इस प्रकार जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तब मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नही रहता । जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगबलसे इस सृष्टिमे सत्य, दया तत्वज्ञान और महाशील उदयको पाते है, उन पुरुषोकी अपेक्षा जो पुरुष शृगारमे अनुरक्त पड़े है, सामान्य तत्वज्ञानको भी नही जानते, जिनका आचार भी पूर्ण नही है, उन्हे बढिया कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, सत्यस्वरूपकी निंदा करना तथा परमात्मस्वरूपको प्राप्त पुरुषोको नास्तिक कहना, यह सब उनकी कितनी अधिक कर्मकी बहुलताका सूचन करता है ! परन्तु जगत् मोहाध है, जहाँ मतभेद है वहाँ अंधेरा है, ममत्व या राग है वहाँ सत्यतत्व नही है यह बात हम किस लिए न विचारे ?

मैं एक मुख्य बात आपसे कहता हूँ कि जो ममत्वरहित और न्यायकी है। वह यह है कि आप चाहे जिस दर्शनको माने फिर चाहे जो आपकी दृष्टिमे आये वैसे जैनदर्शनको कहे, सब दर्शनोके शास्त्रतत्वको देखे और जैनतत्वको भी देखे । फिर स्वतत्र आत्मिक शक्तिसे जो योग्य लगे उसे अगीकार करे । मेरी या किसी दूसरेकी बातको भले एकदम मान्य न करे परन्तु तत्वका विचार करे ।

@

शिक्षापाठ ६९

समाजकी आवश्यकता

आग्लभौमिक ससारसम्बन्धी अनेक कला-कौशलमे किससे विजयको प्राप्त हुए ? यह विचार करनेसे हमे तत्काल मालूम

होगा कि उनका बहुत उत्साह और उस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना उनकी विजयका कारण है। कला-कौशलके इस उत्साही काममें उन अनेक पुरुषोंकी खडी हुई सभा या समाजने क्या परिणाम पाया ? तो उत्तरमें यह कहा जायेगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। उनके इस उदाहरणसे उस जातिके कला-कौशलोंकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नही करता, परन्तु यह बतलाता हूँ कि सर्वज्ञ भगवान्‌का कहा हुआ गुप्त तत्व प्रमादस्थितिमे आ पडा है, उसे प्रकाशित करनेके लिए तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिए, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको दूर करनेके लिए तथा धर्मविद्याको प्रफुल्लित करनेके लिए सदाचारी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। पवित्र स्याद्वादमतके ढके हुए तत्वको प्रसिद्धिमे लानेका जब तक प्रयत्न नही होता तब तक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कला-कौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं; परन्तु इस धर्मकलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना। साम्प्रदायिक वाड़ेमे बैठ रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस कृत्यकी सिद्धि होकर जैनांतर्गच्छ-मतभेद दूर हों, सत्य वस्तुपर मनुष्य-मंडलका ध्यान आये और ममत्व जाये।

शिक्षापाठ १००

मनोनिग्रहके विघ्न

बारंबार जो बोध करनेमे आया है उससे मुख्य तात्पर्य यह

निकलता है कि आत्माको तारो और तारनेके लिए तत्वज्ञानका प्रकाश करो तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिए जो जो मार्ग बतलाये हैं वे सब मार्ग मनोनिग्रहके अधीन हैं। मनोनिग्रह सिद्ध होनेके लिए अतीव सावधानता रखना यथोचित है। इस सावधानतामे विघ्नरूप दोष निम्नलिखित हैं—

१ आलस्य	१० आत्मप्रशसा
२. अनियमित निद्रा	११ तुच्छ वस्तुसे आनन्द
३. विशेष आहार	१२. रसगारवलुब्धता
४. उन्माद प्रकृति	१३. अतिभोग
५. माया प्रपंच	१४. दूसरेका अनिष्ट चाहना
६. अनियमित काम	१५. निष्कारण कमाई
७. अकरणीय विलास	१६. बहुतोका स्नेह
८. मान	१७. अयोग्य स्थानमें जाना
९ मर्यादासे अधिक काम	१८ एक भी उत्तम नियमको सिद्ध नही करना

अष्टादश पापस्थानकका क्षय तब तक नही होगा जब तक इन अष्टादश विघ्नोसे मनका सम्बन्ध है। ये अष्टादश दोष नष्ट होनेसे मनोनिग्रह और निर्धारित सिद्धि हो सकती है। जब तक ये दोष मनसे निकटता रखते हैं तब तक कोई भी मनुष्य आत्मसार्थकता नही कर सकता। अति भोगके स्थानपर सामान्य भोग नही परंतु जिसने सर्वथा भोगत्यागव्रत धारण किया है तथा जिसके हृदयमे इनमेसे एक भी दोषका मूल नही है वह सत्पुरुष बड़भागी है।

●

शिक्षापाठ १०१

स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१ एक भेदसे नियम ही इस जगत्का प्रवर्तक है।

२. जो मनुष्य सत्पुरुषोके चरित्ररहस्यको पाता है वह मनुष्य परमेश्वर हो जाता है।

३. चंचल चित्त ही सर्व विषम दु:खोंका मूल है।

४ बहुतोका मिलाप और थोडोंके साथ अति समागम ये दोनो समान दु:खदायक हैं।

५. समस्वभावीका मिलना इसे ज्ञानी एकांत कहते हैं।

६ इंद्रियाँ तुम्हे जीतें और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा उन्हे जीतनेमें ही तुम सुख, आनंद और परमपद प्राप्त करोगे।

७ रागके विना संसार नही और ससारके विना राग नही।

८. युवावस्थाका सर्वसंगत्याग परमपदको देता है।

९. उस वस्तुके विचारमे लगो कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।

१०. गुणीके गुणमें अनुरक्त होओ।

शिक्षापाठ १०२

विविध प्रश्न--भाग १

आज मैं तुमसे कितने ही प्रश्न निर्ग्रंथप्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिए पूछता हूं।

प्र० कहो धर्मकी आवश्यकता क्या है ?

उ० अनादिकालीन आत्माके कर्मजालको दूर करनेके लिए।

प्र० जीव पहले कि कर्म ?

उ० दोनों अनादि है ही। यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगानेका कोई निमित्त चाहिए। कर्म पहले कहो तो जीवके बिना कर्म किये किसने ? इस न्यायसे दोनो अनादि हैं ही।

प्र० जीव रूपी कि अरूपी ?

उ० रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्र० रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे यह कहो ?

उ० देहके निमित्तसे रूपी और स्वरूपसे अरूपी है।

प्र० देह निमित्त किससे है ?

उ० स्वकर्मके विपाकसे।

प्र० कर्मकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी है ?

उ० आठ।

प्र० कौन कौन-सी ?

उ० ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अतराय।

प्र० इन आठों कर्मोंकी सामान्य जानकारी दो।

उ० ज्ञानावरणीय आत्माकी ज्ञानसम्बन्धी जो अनत शक्ति है उसका आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय आत्माकी जो अनंत दर्शनशक्ति है उसका आच्छादन करता है। वेदनीय अर्थात् देहनिमित्तसे साता असाता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोंसे अव्याबाधसुखरूप आत्माकी शक्ति जिससे अवरुद्ध रहती है। मोहनीय कर्मसे आत्मचारित्ररूप शक्ति अवरुद्ध रहती है। नामकर्मसे अमूर्तरूप दिव्य शक्ति अवरुद्ध रहती है। गोत्रकर्मसे अटल अवगाह-

नारूप-आत्मशक्ति अवरुद्ध रहती है। आयुकर्मसे-अक्षयस्थिति गुण अवरुद्ध रहता है। अन्तराय कर्मसे अनत दान, लाभ, वीर्य, भोग, और उपभोगकी शक्ति अवरुद्ध रहती है।

शिक्षापाठ १०३

विविध प्रश्न—भाग २

प्र० इन कर्मोके दूर होनेसे आत्मा कहाँ जाती है ?

उ० अनत और शाश्वत मोक्षमे।

प्र० इस आत्माका मोक्ष कभी हुआ है ?

उ० नही।

प्र० कारण ?

उ० मोक्षप्राप्त-आत्मा कर्ममलरहित है, इसलिए उसका पुनर्जन्म नही है।

प्र० केवलीके लक्षण क्या है ?

उ० चार घनघाती कर्मोका क्षय करके और शेष चार कर्मोको दुर्बल करके जो पुरुष त्रयोदश गुणस्थानमे विहार करता है।

प्र० गुणस्थानक कितने ?

उ० चौदह।

प्र० उनके नाम कहे ?

उ० १ मिथ्यात्व गुणस्थानक। २ सास्वादन गुणस्थानक। ३. मिश्र गुणस्थानक। ४. अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक। ५ देशविरति गुणस्थानक। ६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानक। ७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थानक। ८. अपूर्वकरण गुणस्थानक।

९ अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक। १०. सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानक। ११ उपशांतमोह गुणस्थानक। १२. क्षीणमोह गुणस्थानक। १३ सयोगीकेवली गुणस्थानक। १४. अयोगीकेवली गुणस्थानक।

शिक्षापाठ--भाग १०४

विविध प्रश्न भाग ३

प्र० केवली और तीर्थंकर इन दोनोमे क्या अन्तर है?

उ० केवली और तीर्थंकर शक्तिमे समान है, परंतु तीर्थंकरने पूर्वमे तीर्थंकरनामकर्मका उपार्जन किया है इसलिए वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशय प्राप्त करते हैं।

प्र० तीर्थंकर पर्यटन करके किस लिए उपदेश देते हैं? वे तो निरागी हैं।

उ० पूर्वमें जो तीर्थंकरनामकर्म बांधा है उसे वेदन करनेके लिए उन्हे अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र० अभी प्रवर्तमान शासन किसका है?

उ० श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र० महावीरसे पहले जैनदर्शन था?

उ० हाँ।

प्र० उसे किसने उत्पन्न किया था?

उ० उनसे पहलेके तीर्थंकरोने।

प्र० उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है सही?

उ० तत्त्वस्वरूपसे एक ही है। पात्रको लेकर उपदेश होनेसे

और कुछ कालभेद होनेसे सामान्य मनुष्यको भिन्नता लगे सही; परंतु न्यायसे देखते हुए यह भिन्नता नही है।

प्र० उनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ० आत्माको तारो, आत्माकी अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और उसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो।

प्र० इसके लिए उन्होने कौनसे साधन बताये हैं।

उ० व्यवहारनयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना, सद्देवका गुणगान करना, त्रिविध धर्मका आचरण करना और निर्ग्रन्थ गुरुसे धर्मका बोध पाना।

प्र० त्रिविध धर्म कौनसा ?

उ० सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यग्चारित्ररूप।

●

शिक्षापाठ १०५

विविध प्रश्न--भाग ४

प्र० ऐसा जैनदर्शन जब सर्वोत्तम है तब सभी आत्माएं इसके बोधको क्यो नही मानती ?

उ० कर्मकी बहुलतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए दल और सत्समागमके अभावसे।

प्र० जैन मुनियोंके मुख्य आचार क्या हैं ?

उ० पांच महाव्रत, दशविध यतिधर्म, सप्तदशविध संयम, दशविध वैयावृत्य, नवविध ब्रह्मचर्य, द्वादश प्रकारका तप, क्रोधादिक चार प्रकारके कषायका निग्रह, इनके

अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्रका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं।

प्र० जैन मुनियोके जैसे ही सन्यासियोके पांच याम हैं, बौद्धधर्मंमे पाच महाशील हैं। इसलिए इस आचारमे तो जैन मुनि, संन्यासी तथा बौद्ध मुनि एक-से हैं न ?

उ० नही।

प्र० क्यो नही ?

उ० उनके पांच याम और पांच महाशील अपूर्ण हैं। महाव्रत के प्रतिभेद जैनमे अति सूक्ष्म हैं। उन दोनोंके स्थूल हैं।

प्र० सूक्ष्मताके लिए दृष्टान्त दीजिये न ?

उ० दृष्टांत प्रत्यक्ष है। पचयामी कदमूलादिक अभक्ष्य खाते है, सुखशय्यामे सोते हैं, विविध प्रकारके वाहनो और पुष्पोका उपभोग करते हैं, केवल शीतल जलसे व्यवहार करते हैं, रात्रिमें भोजन करते हैं। इसमें होनेवाला असख्यात जतुओंका विनाश ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मता वे नही जानते हैं तथा बौद्धमुनि मासादिक अभक्ष्य और सुखशील साधनोसे युक्त है जैनमुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं।

०

शिक्षापाठ १०६

विविध प्रश्न भाग—५

प्र० वेद और जैनदर्शनमें प्रतिपक्षता है सही ?

उ० जैनदर्शनकी वेदसे किसी द्वेषसे प्रतिपक्षता नही है। परतु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है वैसे जैनदर्शनसे वेदका सबध है।

प्र० इन दोनोमे आप किसे सत्यरूप कहते है ?

उ० पवित्र जैनदर्शनको ।

प्र० वेददर्शनवाले वेदको कहते हैं, उसका क्या ?

उ० यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कारके लिए है। परतु न्यायपूर्वक दोनोके मूलतत्त्व आप देख जाइये ।

प्र० इतना तो मुझे लगता है कि महावीरादिक जिनेश्वरोके कथन न्यायके काँटे पर हैं, परतु जगत्कर्त्ताका वे निषेध करते हैं, और जगत् अनादि अनत है यो कहते है । इस विषयमे कुछ कुछ शका होती है कि यह असख्यात द्वीप-समुद्रयुक्त जगत् बिना बनाये कहाँसे हो गया ?

उ० आपको जब तक आत्माकी अनत शक्तिकी लेश भी दिव्य प्रसादी नही मिली तब तक ऐसा लगता है, परतु तत्त्वज्ञानसे ऐसा नही लगेगा । 'सन्मतितर्क' ग्रन्थका आप परिशीलन करेगे तो यह शका दूर हो जायेगी ।

प्र० परतु समर्थ विद्वान् अपनी मृषा बातको भी दृष्टातादिकसे सैद्धातिक कर देते हैं, इसलिए वह खडित नही हो सकती, परन्तु वह सत्य कैसे कही जाये ?

उ० परन्तु उन्हे कुछ मृषा कहनेका प्रयोजन न था, और थोड़ी देरके लिए यो माने कि हमे ऐसी शका हुई कि यह कथन मृषा होगा तो फिर जगत्कर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यो दिया ? नामडुबाऊ पुत्रको जन्म देनेका क्या प्रयोजन था ? और फिर वे सत्पुरुष सर्वज्ञ थे, जगत्कर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहनेमे उनकी कुछ हानि न थी ।

शिक्षापाठ १०७

जिनेश्वरनी वाणी

(मनहर छन्द)

अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,
अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;
अहो! राजचन्द्र,बाळ ख्याल नथी पामता ए
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे ॥१॥

जिसे उपमा देनेकी लालसा रखना व्यर्थ है, और उपमा देनेसे अपनी मतिका माप निकल जाता है, ऐसा मैने माना है। राजचन्द्र कहते है कि यह कितना आश्चर्य है कि अज्ञानी जीवोको जिनवाणीका ख्याल भी नही आता अर्थात् वे उसकी महिमाको नही जानते है। जिनेश्वरकी वाणीको जिसने जाना है उसीने जाना है ॥१॥

•

जिनेश्वरकी वाणी

जिनेश्वरकी वाणी अनतानंत भावभेदोसे भरी हुई है, इस-लिए मनोहर है। अनतानत नय निक्षेपोसे जिसकी व्याख्या की गई है। जो सकल जगतका हित करनेवाली, मोहको हरनेवाली भवसागरसे तारनेवाली है और जिसे मोक्ष देनेके लिए समर्थ एवं प्रमाणभूत माना है।

शिक्षापाठ १०८

पूर्णमालिका मंगल

(उपजाति)

तपोपध्याने रविरूप थाय,
　　ए साधीने सोम रही सुहाय;
महान ते मगळ पंक्ति पामे,
　　आवे पछी ते बुधना प्रणामे ॥१॥
निर्ग्रंथ ज्ञाता गुरु सिद्धिदाता,
　　कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता;
त्रियोग त्यां केवळ मंद पामे,
　　स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥२॥

पूर्णमालिका मंगल

आत्मा तप और ध्यानसे सूर्यकी भाँति तेजस्वी होती है। तप और ध्यानकी सिद्धिसे शान्त तथा शीतल होकर आत्मा चंद्रकी तरह शोभती है। फिर महामगलकी महापदवीको प्राप्त होती है। फिर वह बुधके परिणाममे आती है अर्थात् बोधिस्वरूप हो जाती है ॥१॥

फिर वह सिद्धिदाता एवं ज्ञाता निर्ग्रन्थ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वय शुक्रका स्थान ग्रहण करती है। उस दशामे त्रियोग मद हो जाते हैं। परिणामत आत्मा स्वरूप सिद्ध होनेपर ऊर्ध्व गमन करके सिद्धालयमे विराजती है ॥२॥

●